

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : १२३

प्रधान सम्पादक  
प्रो. भागचन्द्र जैन भास्कर

# भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का श्रावदान

लेखक

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

निदेशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : १२३

प्रधान सम्पादक  
प्रो. भागचन्द्र जैन भास्कर

# भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का शाब्दान

लेखक

प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर

निदेशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं. : १२३

- पुस्तक : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का अवदान  
लेखक : प्रोफेसर भागचन्द्र जैन भास्कर  
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ  
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ  
आई०टी०आई० रोड, करौंदी  
वाराणसी-५  
दूरभाष संख्या : ३१६५२१, ३१८०४६  
फैक्स : ०५४२-३१८०४६  
प्रथम संस्करण : १९९९  
मूल्य : रुपये ८०.०० मात्र  
अक्षर सज्जा : सरिता कम्प्यूटर्स, औरंगाबाद, वाराणसी-१०  
फोन नं. : ३५९५२१  
मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, भेलपुर, वाराणसी  
I.S.B.N. : 81-86715 - 47-9

**Pārśwanātha Vidyāpīṭha Series No. 123**

- Title** : **Bhārtiya Saṁskṛti men Jaina Dharma kā Avadāna**  
**Writer** : **Prof. Bhagchandra Jain Bhaskar**  
Director, Pārśwanātha Vidyāpīṭha  
**Publisher** : **Pārśwanātha Vidyāpīṭha**  
I.T.I. Road, Karaun,  
Varanasi-5.  
**Telephone No.** : 316521, 31804  
**Fax** : 0542-318046.  
**First Edition** : 1999  
**Price** : Rs. 80.00 only  
**Type Setting at** : Sarita Computers, Aurangabad, Varanasi-10  
(Phone No. 359521)  
**Printed at** : Vardhaman Mudranalaya, Bhelupur, Varanasi.

## प्रकाशकीय

जैनधर्म विशुद्ध मानवतावाद पर टिका भारतीय संस्कृति का कदाचित् प्राचीनतम धर्म है जिसने अहिंसा और अपरिग्रह का अनुपम सन्देश देकर समस्त मानव को राहत की सांस दी है। समता, आत्मपुरुषार्थ, सर्वोदय, कर्मवाद, आत्म-स्वातन्त्र्य आदि जैसे मानवीय सिद्धान्तों की प्रस्थापना कर जैनधर्म ने जातिवाद और वर्गभेद की अभेद्य दीवालों को नेस्तनाबूत कर समाज में एक नयी चेतना दी है। इतना ही नहीं, उसने मानवतावादी विचारधारा को साहित्य कला और स्थापत्य में भी अंकित किया है।

जैनधर्म ने वस्तुतः भारतीय संस्कृति के लगभग सभी क्षेत्रों में अपना स्तुत्य योगदान दिया है। साहित्य की सारी विद्याएँ भी उसने समृद्ध की हैं और अचार-विचार को भी परिष्कृत कर सांस्कृतिक क्षेत्र को आपूर किया है।

हमारे पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर जैनधर्म और भारतीय संस्कृति के निष्णात विद्वान् हैं। भारतीय संस्कृति जैनधर्म का अवदान विषय पर हो रही संगोष्ठी में विषय प्रवर्तन के रूप में प्रस्तुत उनका यह व्याख्यान प्रकाशित कर हमें प्रसन्नता हो रही है। आशा है इससे पाठकगण लाभान्वित होंगे।

भूपेन्द्र नाथ जैन  
सचिव  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ





# विषय-सूची

## सांस्कृतिक अवदान

१-३४

जैन संस्कृति और अध्यात्म १; श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति २; सांस्कृतिक अवदान ४; धर्म की परिधि-अपरिमित मानवता ४; आत्मा ही परमात्मा है ८; आत्म-स्वातन्त्र्य ९; समतावाद १०; चारित्रिक विशुद्धि १२; अनेकान्तवाद १४; अहिंसा और अपरिग्रह १५; रत्नत्रय का समन्वित साधना १८; स्वाध्याय २०; उपयोग और भक्ति २१; सामाजिक समता २४; वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और कर्मवाद २५; दार्शनिक अवदान २५; कलात्मक अवदान २६; एकात्मकता और राष्ट्रीयता २८; लोक बोली प्राकृत का प्रयोग ३३।

## साहित्यिक अवदान

३५-९१

भाषा और साहित्य ३५; प्राकृत भाषा और आर्यभाषाएँ ३६; प्राकृत और छान्दस् भाषा ३८; प्राकृत : जनभाषा का रूप ३९; १. प्रथम पक्ष ३९; २. द्वितीय पक्ष ३९; प्राकृत का ऐतिहासिक विकासक्रम ४१; प्राकृत और संस्कृत ४२; अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएँ ४३; प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में ४४; १. प्राकृत जैन साहित्य ४४; परम्परागत साहित्य ४५; अनुयोग साहित्य ४५; वाचनाएँ ४६; १. पाटलिपुत्र वाचना ४६; २. माथुरी वाचना ४७; वलभी वाचना ४७; श्रुत की मौलिकता ४८; प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण ४९; १. आगम साहित्य ५०; अंग साहित्य ५०; १. आचारांग ५०; २. सूयगडंग ५१; ३. ठाणांग ५१; ४. समवायांग ५१; ५. वियाहपण्णत्ति ५२; ६. नायाधम्मकहाओ; ८. अंतगडदसाओ ५३; ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ ५३; १०. पणहवागरणाई ५३ ११. विवागसुयं ५४; १२. दिट्ठिवाय ५४; उपांग साहित्य ५४; १. उववाइय ५४; २. रायपसेणिय ५४; ३. जीवाभिगम ५५; ४. पण्णवणा ५५; ५. सुरियपण्णत्ति ५५; ६. जम्बूदीवपण्णत्ति ५५; ७. चन्दपण्णत्ति ५५;

८. निरयावलिया ५५; ९. कप्पावडिसिया ५६; १०. पुष्पिया ५६; ११. पुष्पचूला ५६; १२. वण्हदसाओ ५६; मूलसूत्र ५६; १. उत्तरज्झायण ५६; २. आवस्सय ५७; ३. दसवेयालिय ५७; ४. पिण्डनिर्युक्ति ५७; ५. ओघनिर्युक्ति ५७; छेदसूत्र ५७; १. दसासुयक्खन्ध ५७ २. बृहत्कल्प ५८; ३. ववहार ५८; ४. निसीह ५८; ५. महानिसीह ५८; ६. जीतकल्प ५८; चूलिका सूत्र ५८; प्रकीर्णक ५९; आगमिक व्याख्या साहित्य ५९; निर्युक्ति साहित्य ६०; भाष्य साहित्य ६०; चूर्ण साहित्य ६१; टीका साहित्य ६२; कर्म साहित्य ६२; सिद्धान्त साहित्य ६४; आचार साहित्य ६५; विधिविधान और भक्तिमूलक साहित्य ६६; पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य ६६; कथा साहित्य ६८; कथासंग्रह ६९; लाक्षणिक साहित्य ७०; चूर्ण और टीका साहित्य ७३; कर्म साहित्य ७६; सिद्धान्त साहित्य ७७; न्याय साहित्य ७८; आचार साहित्य ७९; भक्तिपरक साहित्य ८०; पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य ८१; कथा साहित्य ८३; ललित वाङ्मय ८४; लाक्षणिक-साहित्य ८५; अपभ्रंश साहित्य ८६; अन्य भारतीय भाषाओं का जैन साहित्य ८७; तमिल जैन साहित्य ८७; तेलगू जैन साहित्य ८८ कन्नड़ जैन साहित्य ८८; मराठी जैन साहित्य ८९; गुजराती जैन साहित्य ८९; हिन्दी जैन साहित्य ९०



## सांस्कृतिक अवदान

### जैन संस्कृति और अध्यात्म

संस्कृति एक आन्तरिक तत्त्व है, जो व्यक्ति और समाज के आत्मिक-संस्कारों पर केन्द्रित रहता है। सभ्यता उसका बाह्य-तत्त्व है, जो देश और काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यह परिवर्तन संस्कृति को प्रभावित भले ही कर दे पर उसमें आमूल परिवर्तन करने की क्षमता नहीं रहती। इसलिए संस्कृति की परिधि काफी व्यापक होती है। उसमें व्यक्ति का आचार-विचार, जीवन-मूल्य, नैतिकता, धर्म, साहित्य, कला, शिक्षा, दर्शन आदि सभी तत्त्वों का समावेश होता है। इन तत्त्वों को हम साधारण तौर पर सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना के अन्तर्गत निविष्ट कर सकते हैं।

व्यक्ति समाजनिष्ठ होने के बावजूद आत्मनिष्ठ है। पर सन्देह और तर्क की गहनता ने, बौद्धिक व्यायाम की सघनता ने उसकी इस आत्मनिष्ठता पर प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है और उसकी आत्मानुभूति की शक्ति को पीछे ढकेल दिया है। वह कमजोरियों का पिण्ड है, इस तथ्य को जानते हुए भी अहङ्कार के कारण वह सार्वजनिक रूप से उसे स्वीकार नहीं कर पाता। यह अस्वीकृति उसका स्वभाव बन जाता है। फलतः क्रोधादि कषायों के आवेश और आवेग को वह अनियन्त्रित अवस्था में पाले रहता है।

अध्यात्म एक सतत् चिन्तन की प्रक्रिया है, अन्तश्चेतना का निष्पन्द है। वह एक ऐसा संगीत स्वर है, जो एकनिष्ठ होने पर ही सुनाई देता है और स्वानुभव की दुनिया में व्यक्ति को प्रवेश करा देता है। स्वयं ही निष्पक्ष चिन्तन और ध्यान के माध्यम से वह अपनी कमजोरियों को बाहर फेंकने के लिए आतुर हो जाता है। उसका हृदय आत्मसुधार की ओर कदम बढ़ाने के लिए एक सशक्त माध्यम की खोज में निकल पड़ता है— यह माध्यम है—धर्म और अध्यात्म।

पशु और मनुष्य को पृथक् करने वाला तत्त्व है— विवेक। विवेक न होने से पशु आज भी अपने आदिम जगत् में है जबकि मनुष्य ने विवेक के माध्यम



से ही अपनी प्राण-शक्ति का विकास किया, विज्ञान की चेतना ने उसे नये आयाम दिये और प्रस्फुटित किये उसके सारे शक्ति-क्षेत्र जिनमें वह विकास के नये संकल्प, उपाय और साधन की खोज में निरन्तर लगा रहता है। उसकी इस निरन्तरता का सूत्र कभी भंग नहीं हो पाता। यह प्राणधारा प्रयत्न साध्य है। चेतना की सक्रियता और मनोबल की सक्षमता से ही वह उपलब्ध की जा सकती है। शरीर-बल और वचन-बल से उसे क्रियाशक्ति मिल जाती है। यह क्रियाशक्ति व्यक्ति की संवेदना और चेतना के विकास-बोध की फलश्रुति है। संवेदना पर नियन्त्रण कर ज्ञान का विकास करना उसकी विशेषता है। अन्तर्मुखी होकर वह यथार्थ की साधना करता है, ध्यान करता है और प्रतिबिम्ब से परे जाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न में अहिंसा और संयम उसका साथ देते हैं। ज्ञा और आत्म-साक्षात्कार से उसकी साधना का क्षेत्र बढ़ जाता है। तर्क और बुद्धि के सोपान से ही अनुभव की चेतना में वह प्रवेश कर जाता है।

हमारी स्वानुभूति की चेतना यह कहती है कि हमारा आचार और व्यवहार दूसरों के प्रति परिष्कृत हो। उसमें क्रूरता, विषमता और अहंमन्यता न हो, धोखाधड़ी न हो। हमारी मनःस्थिति यदि समता से भरे आचरण और व्यवहार से भर जाये तो अशान्ति स्वतः अदृश्य हो जाती है, संस्कार परिवर्तित हो जाते हैं, स्वभाव रूपान्तरित हो जाता है और प्रवाहित होने लगती है सामुदायिक चेतना की वह प्रशान्त धारा जिसमें सहिष्णुता, करुणा, सरलता और क्षमाशीलता जैसे अध्यात्मनिष्ठ तत्त्व सदैव जागृत रहते हैं। ये तत्त्व व्यक्ति की अध्यात्मनिष्ठा के साथ जुड़ जाते हैं जहाँ पुरुषार्थ जाग जाता है पूर्ण ज्योति पाने के लिए और सृजनात्मक चेतना स्फुरित हो जाती है विजातीय तत्त्वों को दूर करने के लिए। साधक इस साध्य की प्राप्ति के लिए आत्मानुशासन से स्वयं को नियन्त्रित करता है, अवचेतन मन में पड़े हुए संस्कारों और वासनाओं को विशुद्ध करता है, और सारी क्षमताओं को अर्जितकर मानसिक असन्तुलन को दूर करता है निराग्रही वृत्ति से, सन्तुलित विशुद्ध शाकाहार से और निष्पक्ष वीतरागता के चिन्तन से। जैन संस्कृति ऐसी ही चिन्तनशीलता भरा वातावरण प्रस्तुत करती है साधक के समक्ष जो उसे सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना की ओर मोड़ देता है। यह उसका एक विशिष्ट अवदान है।

### श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति

भारतीय सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रमुख रूप से श्रमण और ब्राह्मण परम्परायें पल्लवित होती रही हैं। दोनों परम्परायें पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर में परिपूरक

हैं, अनुस्यूत हैं। प्राचीनतम वैदिक साहित्य में समागत वातरशना श्रमण, ब्रात्य, अर्हत, आर्हत, दिग्वासा, ऋषभ, असुर, ऊर्ध्वमन्थी, केशी, पुण्यशील, यति, मुनि आदि शब्द जैन संस्कृति के प्रभावशाली अस्तित्व की सूचना देते हैं और मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा लोहानीपुर में प्राप्त योगी ऋषभदेव की कायोत्सर्गी मूर्तियां उसकी सांस्कृतिक विरासत की कथा कहती हैं।

श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियां वस्तुतः हमारी मनोवृत्ति की परिचायिका हैं इसलिए वे परस्पर प्रभावित भी हुई हैं, उनमें आदान-प्रदान भी हुआ है। समता और पुरुषार्थशीलता पर प्रतिष्ठित श्रमणधारा के अध्यात्मप्रधान निवृत्तिमार्गीय चिन्तन से ब्राह्मणधारा प्रभावित हुई है और ब्राह्मणधारा के कर्मकाण्डीय तत्त्व ने श्रमणधारा को प्रभावित किया है। उपनिषदीय चिन्तन में परिदृष्ट परिवर्तन निश्चित रूप से श्रमणधारा के प्रभाव का परिणाम है और इसी तरह श्रमणधारा में स्वीकृत देवी-देवता, यक्ष-यक्षिणी समुदाय ब्राह्मणधारा से आयातित हुआ है। यहां यह संकेत करना आवश्यक नहीं है कि श्रमणधारा का मूल प्रवर्तन जैन संस्कृति से हुआ है। बौद्ध संस्कृति तो छठी शताब्दी ई०पू० की देन है।

सहस्रातिसहस्र प्राचीन इस जैन संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को दार्शनिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में अत्यन्त समृद्ध किया है। जैनाचार्यों ने अपने चिन्तन में जो वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता, सार्वजनीनता, एकात्मकता, जाति-वर्गहीनता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रस्फुटन किया है, वह नितान्त अनूठी है। यहां हम उसके अनुठेपन को दो भागों में विभाजित कर उसके अवदान पर चिन्तन करेंगे— सांस्कृतिक अवदान और साहित्यिक अवदान। इन दोनों अवदानों में श्रमण जैन संस्कृति में समतावाद, शमतावाद और पुरुषार्थवाद को आत्मसात करने का साहस दिखाई देता है और वर्गभेद, वर्णभेद, उपनिवेशवाद आदि जैसे असमानवादी तत्त्वों से कोसों दूर रखकर व्यक्ति और समाज को स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन की ओर कदम पहुंचाता नज़र आता है। जैने संस्कृति ने उपादान और निमित्त के माध्यम से तत्कालीन प्रचलित दार्शनिक मत-मतान्तरों में जो सामञ्जस्य प्रस्थापित करने का अथक् प्रयत्न किया है वह निश्चित ही स्तुत्य है।

इस पृष्ठभूमि में परिपूरक होते हुए भी ब्राह्मण और श्रमण सांस्कृतिक विचारधाराओं के बीच एक विभेदक रेखा इस प्रकार खींची जा सकती है कि ब्राह्मण संस्कृति में 'ब्रह्म' ने विस्तार किया, उसने एक से विविध रूप लिये, अवतार धारण किये, स्वप्न और माया का सृजन हुआ, भक्तिशास्त्र का जन्म हुआ, विषमता पनपी और परमात्मा ईश्वर स्वरूप में अनुपलब्ध हो गया। दूसरी

ओर श्रमण विचारधारा ने तीर्थवादी प्रवृत्ति को विकसित किया, इस पार से उस पार जाने की बात कही, और संसार से लौटकर, बहिरात्मन् से दूर होकर अन्तरात्मन् की ओर मुड़ने का तथा परमात्मा की ओर वापस जाने का संकल्प दिया। इस संकल्प में समर्पण नहीं, पुरुषार्थ है, वृत्तियों के सामने घुटने टेकना नहीं, साहसपूर्वक उनसे संघर्ष करना है, फैलाव नहीं, सिकुड़न है, अपने घर वापस लौटना है, विशुद्धता में पहुँचना है, अन्य किसी की भी शरण में न जाकर स्वयं की शरण में जाना है, हर आत्मा में परमात्मा तीर्थङ्कर का वास है, वह अनुपलब्धेय नहीं, सम्यक् साधना से उपलब्धेय है, पथदर्शक है। वहाँ पूजा नहीं, ध्यान है, वासना या राग नहीं, वीतराग अवस्था है। इसलिए वह जिन मार्ग है ऐसे जिनों का जिन्होंने कर्म, वासना को जीतकर स्वानुभूति के आधार पर उपदेश दिया है, स्वयं विशुद्धि के चरम शिखर पर पहुँचकर सभी प्राणियों के कल्याण की बात कही है। जिन मार्ग वस्तुतः क्षत्रिय मार्ग है, योद्धा मार्ग है; ऐसे योद्धाओं का जो इन्द्रिय वृत्तियों से संघर्ष करते हैं और निराकांक्षी होकर मृत्यु को जीत लेते हैं, परमानन्द का अनुभव करते हैं और भवसागर से पूर्णतः पार हो जाते हैं, अवतार के रूप में वापस नहीं आते। इस अन्तर के बावजूद दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे की परिपूरक हैं।

### (१) सांस्कृतिक अवदान

इन दोनों अवधारणाओं में जैन संस्कृति श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध है जिसे आचार्यों ने साहित्य के माध्यम से बड़ी सुगढ़ता के साथ स्पष्ट किया है। इतिहास की दृष्टि से उस संस्कृति के आद्य प्रणेता तीर्थङ्कर ऋषभदेव थे और उसे तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और महावीर ने अनुप्राणित किया। उसी को उत्तरकाल में श्रुतधर और सारस्वत आचार्यों ने पल्लवित किया। उसी के आधार पर आचार्यों ने जैन संस्कृति की कतिपय मूल अवधारणाओं को लेकर संस्कृति के मूल कथ्य का विस्तार किया है।

संस्कृति के मूल कथ्य को धर्म की परिभाषा की परिधि में रखा जा सकता है। धर्म की अनेक प्रकार से परिभाषायें देकर जैन संस्कृति की अवधारणाओं को उसके माध्यम से स्पष्ट करने का तात्पर्य यह भी है कि जीवन के सारे कोण धर्म से सम्बद्ध रहते हैं। इसलिए जैन संस्कृति के अवदान को समझने के लिए धर्म को पहले समझ लिया जाये।

### (१) धर्म की परिधि-अपरिमित मानवता

धर्म महज रूढ़ियों और रीति-रिवाजों का परिपालन मात्र नहीं है। वह तो

जीवन से जुड़ा सर्जनात्मक सर्वदेशीय तत्त्व है जो प्राणिमात्र को वास्तविक शान्ति का सन्देश देता है, मिथ्याज्ञान और अविद्या को दूर कर सत्य और न्याय को प्रगट करता है, तर्कगत आस्था और श्रद्धा को सजीव रखता है, बौद्धिकता को जाग्रत कर सद्भावना के पुष्प खिलाता है और बिखेरता है उस स्वानुभूति को, जो अन्तर में ऋजुता, सरलता और प्रशान्त वृत्ति को जन्म देती है। वह तो रिम-झिम बरसते बादल के समान है जो तन-मन को आह्लादित कर आधि-व्याधियों की ऊष्मा को शान्त कर देता है।

धर्म के दो रूप होते हैं — एक तो वह व्यक्तिगत होता है जो परमात्मा की आराधना कर स्वयं को तद्रूप बनाने में गतिशील रहता है और दूसरा साधना तथा सहकार पर बल देता है। एक आन्तरिक तत्त्व है और दूसरा बाह्य तत्त्व है। दोनों तत्त्व एक दूसरे के परिपूरक होते हैं, जो आन्तरिक अनुभूति को सबल बनाये रखते हैं, बुद्धि, भावना और क्रिया को पवित्रता की ओर ले जाते हैं और मानवोचित गुणों का विकास कर सामाजिकता को प्रस्थापित करते हैं।

धर्म जब कालान्तर में मात्र रूढ़ियों का ढाँचा रह जाता है, तब सारी गड़बड़ी शुरू हो जाती है, विवेक-हीनता पनपती है और फिर साधक रागात्मक परिसीमा में बंधकर धर्म के आन्तरिक सम्बन्ध को भूल जाता है, उसके निर्मल और वास्तविक रूप की छाया में घृणा और द्वेष-भाव जन्म लेने लगते हैं। ऐसे ही धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव नृत्य जितना हुआ है, उतना शायद ही किसी और नाम पर हुआ हो। इसलिए साधारण व्यक्ति धर्म से बहिर्मुख हो जाता है, उसकी तथ्यात्मकता को समझे बिना आस-पास के वातावरण को भी दूषित कर देता है। वस्तुतः हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न जैन हैं, न बौद्ध, न ईसाई हैं, न यहूदी। हम तो पहले मानव हैं और धार्मिक बाद में। व्यक्ति यदि सही इन्सान नहीं बन सका तो वह धार्मिक कभी नहीं हो सकता, धर्म का मुखौटा भले ही वह कितना भी लगाये रखे। जैन संस्कृति की यह अप्रतिम विशेषता है।

इसलिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें और इन्सानियत को बनाये रखने के लिए उसकी उपयोगिता को जाने। इन्सानियत को मारने वाली इन्सान में निहित कुप्रवृत्तियाँ और भौतिकवादी वासनायें हैं जो युद्ध और संघर्ष को जन्म देती हैं, व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच कटुता की अभेद्य दीवालें खड़ी कर देती हैं। धर्म के मात्र निवृत्तिमार्ग पर जोर देकर उसे निष्क्रियता का जामा पहनाना भी धर्म की वास्तविकता को न समझना है। धर्म तो वस्तुतः दुःख के मूल कारण रूप आसक्ति को दूर कर असाम्प्रदायिकता

को प्रस्थापित करता है, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नयी दृष्टि देता है और समतामूलक समाज की रचना करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इस दृष्टि से धर्म की शक्ति अपरिमित और अजेय है, बशर्ते उसके वास्तविक स्वरूप को समझ लिया जाये। धर्म के इसी स्वरूप को स्पष्ट करना समूचे साहित्य और कला का अभिधेय रहा है।

धर्म की शताधिक परिभाषायें हुई हैं। उन परिभाषाओं का यदि वर्गीकरण किया जाये तो उन्हें साधारण तौर पर तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है — मूल्यात्मक, वर्णनात्मक और क्रियात्मक। ये तीनों प्रकार भी एक-दूसरे में प्रवेश करते दिखाई देते हैं। कोई एक तत्त्व पर जोर देता है तो कोई दूसरे तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। इसलिए काण्ट जैसे दार्शनिकों ने उसके वैज्ञानिक स्वरूप को प्रस्तुत किया जिसमें मानवता को प्रस्थापित कर धर्म को ईश्वर-विश्वास से पृथक् कर दिया। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने तो धर्म को इस रूप में बहुत पहले ही खड़ा कर दिया था।

यह सही है कि धर्म की सर्वमान्य परिभाषा करना सरल नहीं है पर उसे किसी सीमा तक इतना तो लाया ही जा सकता है कि वह अधिक से अधिक सार्वजनिक बन सके। एकेश्वरवाद की कल्पना ने ईश्वरीय पुरुष को खड़ा कर धर्म के साथ अनेक किंवदन्तियों और पौराणिक कल्पनाओं को गढ़ा है और व्यक्ति तथा राष्ट्र को शोषित किया है। धर्म के नाम जितने बेहूदे अत्याचार और युद्ध हुए हैं, वह उन अज्ञानियों का दुष्कृत्य है जिन्होंने कभी धर्म का अनुभव ही नहीं किया बल्कि निजी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अपनी पिछलग्गू जनता को भड़काया, भीड़ को जमा किया, उसकी आस्था और विश्वास का दुरुपयोग किया और धर्मान्धता की आग में धर्म की वास्तविकता को भस्म कर दिया, उसकी आध्यात्मिकता के निर्झर को सुखा दिया। इसलिए धर्म के स्वरूप में स्वानुभूति का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी को 'रसो वै सः' कहा गया है, अनिर्वचनीय और परमानन्द रूप माना गया है। एकेश्वरवाद से हटकर व्यक्ति सर्वेश्वरवाद की ओर जाता है और फिर स्वयं को ही परम विशुद्ध रूप परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर आत्मा को ही परमात्मा समझने लगता है। धर्म की यह विकास प्रक्रिया व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाती है और उसे विश्वजनीन बना देती है।

भारतीय संस्कृति में जब हम धर्म शब्द पर विचार करेंगे तो हमारा ध्यान ब्राह्मण और श्रमण संस्कृति की ओर बरबस खिच जाता है। 'धर्म' धृ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है बनाये रखना, धारण करना, पुष्ट करना

(धारणात्, धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः)। यह वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व, जिसके कारण वह वस्तु है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं (स्कन्धों) का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी और ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों से है— (त्रयो धर्मस्कन्धाः २.३)। जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमसे धर्माचरण (धर्म चर- १.११) करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है। बौद्ध धर्म के लिए यह शब्द धर्म, बुद्ध और संघ या समाज के साथ-साथ 'त्रिरत्न' में से एक है। पूर्व मीमांसा के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना- चोदना लक्षणार्थों धर्मः। वैशेषिकसूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द (निःश्रेयस्) की प्राप्ति हो, वह धर्म है — यतोभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।

जैनधर्म आर्हत धर्म है।<sup>१</sup> उसकी संस्कृति वीतरागता से उद्भूत हुई है जहाँ कर्मों को नष्ट कर, उनकी निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य रहता है। इसलिए जैनाचार्यों ने अपनी संस्कृति के मूल में धर्म को संयोजित किया है और उसे जीवन के हर पक्ष से जोड़ने का प्रयत्न किया है। जैन संस्कृति को समझने के लिए उसमें निहित धर्म की विविध परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। इन परिभाषाओं को हम स्थूल रूप से इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं —

१. धर्म का सामान्य स्वरूप,
२. धर्म का स्वभावात्मक स्वरूप,
३. धर्म का गुणात्मक स्वरूप, और
४. धर्म का मोक्षमार्गात्मक स्वरूप।

इन स्वरूपों के माध्यम से ही हम जैन संस्कृति की मूल अवधारणाओं को समझने का प्रयत्न करेंगे।

- 
१. जैनधर्म के साथ सम्प्रदायवाची जैन शब्द लगभग आठवीं शती में जुड़ा। इसके पूर्व उसे आर्हत धर्म ही कहते थे। वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी आर्हत धर्म और दिगम्बर शब्दों का प्रयोग हुआ है।

## (२) आत्मा ही परमात्मा है

जैनधर्म आत्मवादी धर्म है। संसारी आत्मा ही कर्मों का स्वयं विनाश कर परमात्मा बन जाता है। इसलिए सभी जैनाचार्यों ने सामान्यतः धर्म उसे कहा है, जो सांसारिक दुःखों से उठाकर उत्तम वीतराग सुख में पहुँचाये। यथा —

१. संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुख- रत्नकरण्डश्रावकाचार-२
२. इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः - सर्वार्थसिद्धि- ९; तत्त्वार्थवार्तिक, ९.२३.
३. यस्माज्जीवं नारक-तिर्यग्योनिकुमानुष-देवत्वेषु प्रपतन्तं धारयतीति धर्मः दशवैकालिकचूर्णि, पृ० १५; ललितविस्तरा, पृ० ९०; आवश्यकसूत्र, मलयवृत्ति, पृ० ५९२; पद्मपुराण, १४.१०३-४; महापुराण, २.३७; उत्तरा०चूर्णि, ३, पृ० ९८; धर्मामृत टीका-५; प्र०सा० जय० वृ० १-८ आदि।

जैनाचार्यों की धर्म की इन परिभाषाओं को देखकर ऐसा लगता है कि वे व्यक्ति को प्रथमतः सांसारिक दुःखों से परिचित कराना चाहते हैं और फिर आत्मा की विशुद्ध अवस्था रूप परमात्मा को प्राप्त करने का आह्वान करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति बार-बार दुःख का साक्षात्कार करने से बीमारी की प्रगाढ़ता से परिचित हो जाता है, वस्तुस्थिति को स्वयं जानने लगता है और फिर उसी आत्मा में वास करने वाले परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करने का लक्ष्य बना लेता है। तथाकथित ईश्वर रूप परमात्मा का भाव उसके मन में आता ही नहीं। है भी नहीं। इसलिए जैनधर्म को नकारात्मक और दुःखवादी नहीं माना जाना चाहिए। जैनधर्म संसार को स्वप्न और माया भी नहीं कहना चाहता। वह तो हमें उसकी यथार्थता से परिचित कराता है। इसलिए धर्म की यह परिभाषा बड़ी व्यावहारिक है और जैनधर्म भी उसी व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ संसारियों को दुःख से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है। उसे वह उन दुःखों से पलायन करने की सलाह नहीं देता बल्कि जूझने और संघर्ष करने की प्रेरणा देता है और आगाह करता है कि इन सांसारिक दुःखों का मूल कारण राग और द्वेष है। प्राणी कर्म मोह की प्रबलता से उन्मत्त होते हैं। वह जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण की भाव-परम्परा दुःख का मूल है। इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है। जन्म-मरण के चक्कर में सुख होगा भी कहाँ? इसलिए यदि हम यथार्थ सुख पाना चाहते हैं तो जन्म-मरण के भव-चक्कर से मुक्त होना आवश्यक है। उपादेय भी यही है। आत्मा ही परमात्मा है, इस परमतत्त्व को समझने का मार्ग भी यही है।

### (३) आत्म-स्वातन्त्र्य

जैन सांस्कृतिक परम्परा में आत्म-स्वातन्त्र्य की घोषणा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता उद्घोषित है। उसे स्वयं विचार और ध्यान करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसके ऊपर ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं है। वह स्वयं अपने कर्म का निर्माता और भोक्ता है। इस चिन्तन से वैराग्य का जागरण होता है, सचेतता आती है, क्रान्ति होती है, रूपान्तरण होता है और समता का जन्म हो जाता है। समता आने से साधक के चैतन्य की दशा विरागता से भर जाती है। वह संसार में रहते हुए भी उसी प्रकार वहाँ रहता है जिस प्रकार पोखर में खिला हुआ कमल जो जल में रहता हुआ भी जल उसका स्पर्श भी नहीं कर पाता।

**भावे विरक्तो मणिओ विसोगो, एएणदुक्खोहरपरंपरेण।**

**न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोखरणि पलासं।।**

जैनधर्म के चिन्तन का केन्द्रीभूत तत्त्व आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त उसमें न संसार का मूल्य है और न सृष्टिकारक परमात्मा का। वह स्वार्थ की बात करता है, स्वयं के कल्याण की, मंगल की, आत्महित की। आत्महित की बात करने वाला ही परहित की बात सोच सकता है। वहाँ 'मैं' नाम के तत्त्व का भी कोई अस्तित्व नहीं। हाँ, अहङ्कार का विगलन आवश्यक हो जाता है। उसके विसर्जन बिना एकाकीपन आ ही नहीं सकता। कैवल्य की साधना एकाकीपन की साधना है। वह व्यष्टिनिष्ठ आनन्द है। जो स्वयं आनन्दित होता है वह दूसरे को भी आनन्दित कर देता है। दुःखी व्यक्ति दूसरे को आनन्दित कर ही नहीं सकता। यहाँ स्वार्थ में परार्थ सधा हुआ है। आत्मा में विशुद्ध परमात्मा का रूप बसा हुआ है। इसलिए आत्म-साधना से ही परमात्म-साधना होगी। परमात्मा कोई ईश्वर नहीं, सृष्टि का कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं। बहिरात्मा में व्यक्ति बाहर ही बाहर घूमता रहता है। उसका अन्तर का संगीत खोया रहता है, स्वभाव से विमुख रहता है। राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त रहता है। जब जागरण विवेक का होता है तो वह संसार से विमुख हो उठता है, स्व-पर पर चिन्तन करने लगता है, अन्तरात्मा की ओर बढ़ जाता है और ध्यान- सामायिक करने लगता है। जब यह भी भेद समाप्त हो जाता है तो आत्मा की परमात्मावस्था आ जाती है। मनुष्य ही परमात्मा बन जाता है। आत्मा ही परमात्मा है यह क्रान्तिकारी उद्घोषणा जैनधर्म की निराली है। ईश्वर से मनुष्य को इतनी स्वतन्त्रता देना जैनधर्म की अपनी विशेषता है। नीत्शे ने कहा ईश्वर मर चुका है। अब आदमी स्वतन्त्र है कुछ भी करने के लिए। पर जैनधर्म ने इससे भी आगे बढ़कर कहा — ईश्वर



का अस्तित्व था ही कहां? फिर उसके मरने का प्रश्न ही नहीं उठता। हर व्यक्ति में परमात्मा बैठा हुआ है। बस, उसे जागृत करने की आवश्यकता है। ईश्वर में जगत्-कर्तृत्व है ही नहीं। संसार तो उपादान-निमित्त का संयोजन मात्र है स्वयं ही। उसे ईश्वर कर्तृत्व की आवश्यकता नहीं होती।

संसार की सृष्टि निमित्त-उपादान कारणों से होती है। ईश्वर सृष्टि-कारक नहीं है। व्यक्ति स्वयं ही कर्ता है, स्वयं ही भोक्ता है। सारा उत्तरदायित्व स्वयं के शिर पर है। आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता है, भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा अपना ही मित्र है। वह असंयम से निवृत्त होता है और संयम में प्रवृत्त होता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति, उसकी एक साथ चलती हैं। सबसे बड़ा शत्रु यदि कोई है तो इन्द्रियाँ हैं, कषाय हैं जिन्हें जीतने के लिए व्यक्ति को सदैव संघर्ष करना पड़ता है, विवेक जाग्रत करना पड़ता है। तभी धर्माचरण हो पाता है। विवेक जाग्रत हो जाने पर सांसारिक सुख यथार्थ में सुखाभास लगने लगते हैं, उनमें झूठा आनन्द दिखाई देने लगता है, मृत्यु का चिन्तन प्रखर हो उठता है।

अप्या कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्या मित्तममित्तं य, दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥

एगप्या अजिए सत्तु, कसाया इन्द्रियाणि य ।

ते जिणित्तु, जहानायं विहरामि अहं मुणी ॥

उत्तराध्ययन, २०.३७-३८

इस दृष्टि से जैन संस्कृति की प्रथम यह मूल अवधारणा है कि आत्मा अनन्त है। वे पृथक्-पृथक् हैं। उनमें अनन्त शक्ति और ज्ञान प्रवाहित हैं। मूलतः वह आत्मा विशुद्ध है, पर कर्मों के कारण उसकी विशुद्धता आवृत्त हो जाती है। वीतरागता प्राप्त करने पर वही संसारी आत्मा परमात्मा बन जाती है। जैन संस्कृति का यह लोकतन्त्रात्मक स्वरूप है जहां सभी आत्मायें बराबर हैं और वे सर्वोच्च स्थान पा सकती हैं।

#### (४) समतावाद

धर्म का यह स्वभाव है कि वह समतामूलक हो। जैन संस्कृति की यह विशेषता है कि वह अथ से इति तक समता की बात करती है। समतावादी धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत वस्तु और व्यक्ति के स्वभाव की ओर संकेत किया गया है। वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका स्वभाव है, उसका भीतरी गुण ही उसका स्वरूप है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप स्थिति में पदार्थ अपना स्वरूप

बनाये रखता है। इसी में स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप पर भी विचार किया गया है, जो समतामूलक है जैसे —

१. धम्मो वत्थु सहावो - कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८.
२. स्वसंवेद्यो निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुतः स्वभावोऽभिधीयते।
३. मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो- भावपाहुड ८१
४. धर्मः श्रुतचारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणम् (सूत्रकृतांग, शी० वृ० २.५.१४).
५. सम्यग्दर्शनाद्यात्मपरिणामलक्षणो धर्मः - धर्मसंग्रहणी- मलयगिरि, वृ० २५.

धर्म सम्प्रदाय से ऊपर उठा हुआ है। सम्प्रदाय भीड़ है पर धर्म वैयक्तिक है, समूह नहीं। धार्मिक व्यक्ति अपने आपको अकेला करता जाता है, स्वभाव की ओर मुड़ता जाता है, स्वानुभूति के प्रकाश में संसार को छोड़ता जाता है और एक दिन निष्काम बन जाता है। निष्काम त्याग का जीवन है। धर्म त्याग बिना आचरित नहीं हो सकता। वह माँग से दूर रहने की प्रक्रिया सिखाता है, मन की चंचलता को समझने की आवश्यकता पर बल देता है। इसलिए वह स्पष्ट कर देता है कि क्रोधादि विकारों को किसी भी कीमत पर आश्रय न दें, अन्यथा ये फैल जायेंगे और अपना घर बना लेंगे। विकार भाव अपना घर न बना पाये यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति का संकल्प दृढ़ हो, वह उनके सामने आत्मसमर्पण न करे। संकल्प के समक्ष सत्य रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। असत्य की तो सीमा रहती है। संकल्पी व्यक्ति सत्य की खोज में रहता है। परमात्मावस्था को वापस पाने की तलाश में एकाकी बन जाता है और समत्व योग की साधना करता है। यही समता व्यक्ति का वास्तविक धर्म है, स्वभाव है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि समता अत् गत्यर्थक धातु से सिद्ध होकर सहजावस्था को द्योतित करती है जो ध्यान की उपान्त अवस्था है और समाधि उसकी अन्तिम साधना है।

समता मानवता का रस है, बर्बरता, पशुता, संकीर्णता उसका प्रतिपक्षी स्वभाव है। राग-द्वेषादि भाव उसके विकार-तन्तु हैं। ऋजुता, निष्कपटता, विनम्रता और प्रशान्तावृत्ति उसकी परिणति है। सहिष्णुता और सच्चरित्रता उसका धर्म है।

यद्यपि सापेक्षता व्यापकता लिये हुए रहती है पर मानवता के साथ सापेक्षता को सम्बद्ध करना उसके तथ्यात्मक स्वरूप को आवृत करना है। इसलिए समता की सत्ता मानवता की सत्ता में निहित है। ये दोनों सत्तायें आत्मा की विशुद्ध

अवस्था के गुण हैं। इन गुणों से समवेत व्यक्तित्व को ही साधु कहा जा सकता है—

**समयाए समणो होइ, बंभचरेण बंभणो।**

**नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो।।**

उत्तराध्ययन, २५.३२

व्यवहारतः मानवता के साथ सापेक्षता के आधार पर विचार किया भी जा सकता है पर वास्तविक समता उससे दूर रहती है। समता में 'यदि, और, तो' का सम्बन्ध बैठता ही नहीं। वह तो समुद्र के समान गम्भीर, पृथ्वी के समान क्षमाशील और आकाश के समान स्वच्छ तथा व्यापक है। इसलिए समता का सही रूप धर्म है। यही उसका धर्म है।

यही समता और धार्मिक चेतनता सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना का अविनाभावी अंग है जिसमें धृति और सहिष्णुता, अहिंसा और संवेग-नियन्त्रण जैसे तत्त्व आपाद समाहित हैं। कर्मों का उपशमन और मोक्ष की प्राप्ति भी समता का ही परिणाम होता है।

जैन संस्कृति सामाजिक समता की पक्षधर है। उसमें जाति के स्थान पर कर्म को महत्त्व दिया गया है और स्वयं के पुरुषार्थ को प्रस्थापित किया गया है। यही पुरुषार्थ कल का नियति बन जाता है। इसलिये यहां ईश्वर का नहीं, पुरुषार्थ का सर्वोपरि स्थान है।

### (५) चारित्रिक विशुद्धि

धर्म को शाश्वत और चिरन्तन सुखदायी माना गया है पर उसके वैविध्य रूप में यह शाश्वतता धूमिल-सी होने लगती है। समता का स्वरूप धूमिल होने की स्थिति में कभी नहीं आता। वह तो विकारी भावों की असत्ता में ही जन्म लेता है। क्रोधादिक विकारी भाव असमता विनम्रता, उद्धतता और संसरणशीलता की पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप की साधना से ही ये विकारभाव तिरोहित होते हैं और वही सही तप है। आस्था इसकी आधारभूमि है।

चारित्र का सम्यक् परिपालन किये बिना दर्शन और ज्ञान की आराधना हो नहीं सकती। दर्शन और ज्ञान, आत्मशक्ति, आत्मविश्वास और आत्मज्ञान के प्रतीक हैं जो समता के मूल कारण हैं। इसलिए चारित्र को धर्म कहा गया है और धर्म ही यथार्थ जीवन है।

धर्म तथा समता को राग-द्वेषादिक विकारभावों की अभावात्मक स्थिति कहा जाता है। ममत्व का विसर्जन और सहिष्णुता का सर्जन उसके आवश्यक अंग हैं। मानसिक चंचलता को संयम की लगाम से वशीभूत करना तथा भौतिकता की विषादाग्नि को आध्यात्मिकता के शीतल जल से शमन करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, सद्भाव, समन्वय और संयम उसके महास्तम्भ हैं। श्रमण का यही सही रूप है, स्वरूप है। इसी को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार कहा है —

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिद्वो ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्यणो हि समो ॥

सुविदितपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।

समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवत्तिओगो त्ति ॥ १

समता आत्मा का सच्चा धर्म है। इसलिए आत्मा को समय भी कहा जाता है। समय की गहन और विशद व्याख्या करने वाले दशवैकालिक, समयसार आदि ग्रन्थ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं। सामायिक जैसी क्रियायें उसके फील्ड वर्क हैं। अहिंसा उसी का एक अंग है। वह तो एक निर्द्वन्द्व और शून्य अवस्था है जिसमें व्यक्ति निष्पक्ष, वीतराग, सुख-दुःख में निर्लिप्त प्रशंसा-निन्दा में निरासक्त, लोष्ट-कांचन में निर्लिप्त तथा जीवन-मरण में निर्भय रहता है। यही श्रमण अवस्था है।

वीतरागता से जुड़ी हुई समता आध्यात्मिक समता है जो आगमों और कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में दिखाई देती है। माध्यस्थ भाव से जुड़ी हुई समता दार्शनिक समता है जिसे हम स्याद्वाद, अनेकान्तवाद किंवा विभज्यवाद में देख सकते हैं। तथा कारुण्यमूलक समता पर व्यक्ति की विखण्डित, दरिद्र, पतित और वीभत्स अवस्था देखकर/अनुभवकर राजनीति के कुछ वाद प्रस्थापित हुए हैं। मार्क्स का साम्यवाद ऐसी ही पृष्ठभूमि लिये हुए है। गांधी जी का सर्वोदयवाद महावीर के सर्वोदय तीर्थ पर आधारित है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य समन्तभद्र (ई० दूसरी-तीसरी सदी) ने किया था।

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापिदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

चारित्रिक विशुद्धि की आधारशिला वस्तुतः परिवार है और परिवार का धर्म है गृहस्थ धर्म है जिसे जैन संस्कृति में श्रावक या उपासक धर्म कहा जाता है। वह साधु सन्तों से उपदेश सुनकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ाता है। पारिवारिक, राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रिय शान्ति की स्थापना का भी उत्तरदायित्व श्रावक के सबल कन्धों पर होता है। इसलिए श्रावक का जीवन सदाचारमय होना चाहिए। सामाजिक कर्तव्य भी उसके साथ जुड़ा हुआ है। आचार्य हरिभद्रसूरि, जिनमण्डनगणि, पण्डित आशाधर आदि चिन्तकों ने श्रावक के गुणों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें सत्संग, सुश्रूषा, करुणा, सत्कार, कृतज्ञता, परोपकार आदि गुण उल्लेखनीय हैं। इन गुणों में भी न्यायपूर्वक धन कमाना, शाकाहारी वृत्ति रखना और करुणाशील होना श्रावक की पहचान कही जा सकती है।

न्यायोपात्तधनो यजत्गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्  
 नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणो-स्थानालयो हीमयः।  
 युक्ताहारविहारआर्य-समितिः प्राज्ञःकृतज्ञो वशी  
 शृण्वन् धर्मविधिं र्दयालु धर्मीः सागारधर्मं चरेत्॥

सागारधर्मामृत १.११, धर्मविन्दु, ३-५

#### (६) अनेकान्तवाद

मानवीय एकता, सह अस्तित्व, समानता और सर्वोदयता धर्म के तात्त्विक अंग हैं। तथाकथित धार्मिक विज्ञान और आचार्य इन अंगों को तोड़-मरोड़कर स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओं की विषैली आग को पैदा कर देते हैं जिसमें समाज की भेड़ियाधसान वाली वृत्ति वैचारिक धरातल से असम्बद्ध होकर कूद पड़ती है। उसके सारे समीकरण झुलस जाते हैं। दृष्टि में हिंसक व्यवहार अपने पूरे शक्तिशाली स्वर में गूँजने लगता है, शोषण की मनोवृत्ति सहानुभूति और सामाजिकता की भावना को दूषित कर देती है, वैयक्तिक और सामूहिक शान्ति का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। इस दुर्व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी एकान्तवादी चिन्तकों के सबल हिंसक कन्धों पर है जिसने समाज को एक भटकाव दिया है, अशान्ति का एक आकार-प्राकार खड़ा किया है और पड़ोसी को पड़ोसी जैसा रहने में संकोच, वितृष्णा और मर्यादाहीन भरे व्यवहारों की लौहिक दीवाल को गढ़ दिया है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदय दर्शन इन सभी प्रकार की विषमताओं से

आपादमग्न समाज को एक नई दिशा दान देता है। उसकी कटी पतंग को किसी तरह सम्भाल कर उसमें अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्थिर मजबूत और सामुदायिक चेतना से सजी डोर लगा देता है, आस्था और ज्ञान की व्यवस्था में प्राण फूँक देता है। तब संघर्ष के स्वर बदल जाते हैं। समन्वय की मनोवृत्ति, समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने शास्त्रीय व्यामोह से मुक्त होने के लिये, अपने वैयक्तिक एकपक्षीय विचारों की आहुति देने के लिए, दूसरे के दृष्टिकोण को सम्मान देने के लिए और निष्पक्षता, निर्वैरता-निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल-धूसरित होने से बचाने के लिये।

सापेक्षिक कथन दूसरों के दृष्टिकोण को समान रूप से आदर देता है। खुले मस्तिष्क से पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान करता है, प्रतिपाद्य की यथार्थवत्ता प्रतिबद्धता से मुक्त होकर सामने आ जाती है। वैचारिक हिंसा से व्यक्ति दूर हो जाता है, अस्ति-नास्ति के विवाद से मुक्त होकर नयों के माध्यम से प्रतिनिधि शब्द समाज और व्यक्ति को प्रेमपूर्वक एक प्लेटफार्म पर बैठा देते हैं। चिन्तन और भाषा के क्षेत्र में “न या सियावाय वियागरेज्जा” का उपदेश समाज और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त कर देता है, सभी को पूर्ण न्याय देकर सरल, स्पष्ट और निर्विवाद अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर देता है। आचार्य सिद्धसेन ने “उदधाविव समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृश्यः” कहकर इसी तथ्य को अपनी भगवद् स्तुति में प्रस्तुत किया है। हरिभद्रसूरि की भी समन्वय-साधना इस सन्दर्भ में स्मरणीय है —

**भववीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।**

**ब्रह्मा वा विष्णु वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।**

### (७) अहिंसा और अपरिग्रह

जैन संस्कृति अहिंसा और परिग्रह मूलक है। इसलिए धर्म के गुणात्मक स्वरूप पर चिन्तन करते समय जैनाचार्यों ने व्यक्ति और समाज को परस्पर-निष्ठ बताया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि धर्म वस्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें कारुण्य, सहानुभूति, सहिष्णुता, परोपकारवृत्ति, संयम, अहिंसा, अपरिग्रह जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमांगलिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा से सम्भव है।

धर्म के इस गुणात्मक स्वरूप की परिभाषायें इस प्रकार मिलती हैं —

१. धम्मो दयाविसुद्धो — बोध पाहुड, २५ नियमसार व ६. वरांगचारित-१५-१०७, कार्तिकेया ९७.
२. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो - दशवैकालिक सूत्र, १.१, तत्त्वार्थ-वार्तिक, ६.१३.५. सर्वार्थसिद्धि, ६.१३. जीवाणं रक्खणं धम्मो— कार्तिकेया. ४७८.
३. क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः - तत्त्वार्थसार, ६.४२, भावसंग्रह, ३०६, तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुत. ६-१३; ३. धर्मसं.श्रा.. १०-१९ आदि

धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है, गुण भेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अतः विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए संयम, तप, दया आदि जैसे विधेयात्मक मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा।

हिंसा का मूल कारण है — प्रमाद और कषाय।<sup>१</sup> उसके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन, कार्य में क्रोधादिक भाव प्रगट होते हैं जिनसे स्वयं के शब्द प्रयोग रूप भाव प्राणों का हनन होता है। कषायादिक तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणों का हनन होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तक वेदनादान अथवा परद्रव्यव्यपरोपण भी इन्हीं भावों का कारण है। इसलिए भिक्षुओं को कैसे चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना चाहिए इसका विधान मूलाचार, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है।

समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है— अहिंसा निउणं दिट्ठो सब्भभूयेसु संजमो।<sup>२</sup> उसके सुख संयम में प्रतिष्ठित हैं। मन, वचन, काय से संयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणों का आगार होता है। शील, संयमादि गुणों से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन और दूषित रहता है, वह अहिंसा का पुजारी कभी नहीं हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगड़ना इन चार उपायों से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणों के द्वारा धर्म एवं व्यक्ति की परीक्षा की जाती है —

१. प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तत्त्वार्थसूत्र, ७.१३.
२. दशवैकालिकसूत्र, ६.९.

घम्पो मंगलमुक्कित्तुं अहिंसा संजमो तवो।  
देवा पि तं नमस्संति जस्स धम्मे सया मणो।।

— दशवैकालिक, १.१

संजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोई।  
दाहक-छेदक-संघायकसु उत्तम कंचणु होई।।

— भावपाहुड १४३

पानी छानकर पीना, रात्रि भोजन निषेध, देवदर्शन, अष्टमूलगुणों का परिपालन, निर्व्यसनी जीवन, समन्वयात्मक दृष्टि आदि कुछ ऐसे नियमों का विधान इसीलिए किया गया है कि साधक अहिंसक और संयमी बनकर अहिंसक समाज की रचना कर सके।

जीवन का सर्वाङ्गीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग (१८.६) में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता-फिरता है, किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय-विमुक्त होने पर पुनः अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है। उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधना मार्ग पर बड़ी सतर्कतापूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित होने पर वह पंचेन्द्रियों व मन को आत्मज्ञान में ही गोपन कर लेता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और माध्यस्थ भाव समभाव की परिधि में आते हैं। समभावी व्यक्ति समाचारिता का पालक और सर्वोदयशीलता का धारक होता है।

अध्यात्म का सम्बन्ध अनुभूति से है और हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अध्यवसाय-संकल्प से है। अध्यात्म और संकल्प से आस्था की सृष्टि होती है जिससे मानसिक दुर्बलता से भरी विलासिता समाप्त हो जाती है, स्वार्थ और अहिंसा का विसर्जन हो जाता है, परिशोधन और पवित्रता के आन्दोलन से वह जुड़ जाता है। वह भोग में भी योग खोज लेता है।

जैन संस्कृति मूलतः अपरिग्रहवादी संस्कृति है। जिन, निर्ग्रन्थ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक हैं। मूर्च्छा परिग्रह का पर्यायार्थक है। यह मूर्च्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य भाव है। राग-द्वेषादि भावों से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय आदि भाव अन्तरंग परिग्रह हैं और धन-धन्यादि बाह्य परिग्रह का मूल साधन हिंसा है। झूठ, चोरी, कृशील



उसके अनुवर्तक हैं और परिग्रह उसका फल है। परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिंसक बना देती है। इस हिंसक वृत्ति से तभी विमुख हो सकता है व्यक्ति जब वह अपरिग्रह या परिग्रह परिमाणत्रत का पालन करे।

क्षमा, मार्दव आदि दस धर्मों का पालन भी धर्म है। मनुष्य गिरगिट स्वभावी है, अनेक चित्त वाला है। क्रोधादि विकारों के कारण वह बहुत भूलें कर डालता है। क्रोध विभाव है, परदोषदर्शी है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। परपदार्थों में कर्तृत्व बुद्धि से, मिथ्यादर्शन से क्रोध उत्पन्न होता है और क्षमा सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होती है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती से लेकर नौवे-दसवें गुणस्थान में महाव्रती के उत्तमक्षमा है पर नौवे प्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के उत्तमक्षमा नहीं होती।

मार्दवमानका विरोधी भाव माना है। दुःख अपमान में नहीं, मान की आकांक्षा में है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, समृद्धि, तप, आयु और बल के अभिमान से दूसरे को नीचे दिखाने का भाव पैदा होता है। इससे सत्य की खोज नहीं हो पाती। बिना विनय के भक्ति और आत्मसमर्पण कहाँ? प्रतिक्रिया और प्रतिशोध को जन्म देने वाले अहङ्कार को समाप्त किये बिना जीवन का बदलना सम्भव नहीं है। इसी तरह माया, लोभ आदि विकार भावों को भी विनष्ट किये बिना परम शान्ति नहीं मिलती।

धर्म आत्मस्थिति का मार्ग है, आत्मनिरीक्षण का पथ है। ऋजुता आये बिना धर्म का मर्म पाया नहीं जा सकता। शौचधर्म में चरित्र विशुद्ध हो जाता है और अकषाय की स्थिति आ जाती है और लोभ चला जाता है। सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्म भी आध्यात्मिक साधना को जाग्रत करते रहते हैं और विचारों की पवित्रता को बनाये रखते हैं। इन धर्मों का पालन करने से संकल्प शक्ति का विकास होता है और साधक ध्यान-साधना कर आत्मस्वरूप के चिन्तन में डूबने लगता है।

## (८) रत्नत्रय की समन्वित साधना

तीर्थङ्कर महावीर ने साधना की सफलता के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों तत्त्वों को समवेत रूप में रत्नत्रय कहा जाता है। दर्शन का अर्थ श्रद्धा अथवा व्यावहारिक परिभाषा में आत्मानुभूति के लिये प्रयास कह सकते हैं। श्रद्धापूर्वक ज्ञान और चारित्र के सम्यक् योग ही मोक्ष रूप साधना की सफलता में मूलभूत कारण है। मात्र ज्ञान अथवा चारित्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनों की समन्वित

अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहा गया है— सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः—  
तत्त्वार्थसूत्र १.१ । रत्नत्रय का पालन ही धर्म है। इस प्रकार की परिभाषायें  
देखिये—

१. सदद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेक्षरा विदुः - रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३
२. धम्मो णाम सम्मद्दंसण-गाण-चरित्ताणि- धवला, पु. ८, पृ. ९२.
३. सम्यग्दृष्टि- प्राप्ति चारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः - लाटीसंहिता, ४.२३७-३८.

मोक्ष-प्राप्ति का रत्नत्रय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास, ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार संसार के जन्म-मरण सभी रोग से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय का सम्यक् योग होना आवश्यक है। तत्त्वार्थवार्तिक (१.१, पृ. १४) में इस सन्दर्भ में बड़े अच्छे दो श्लोक उद्धृत हुए हैं —

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया।

धावन् किलान्यको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः।।

संयोगमेवेह वहन्ति तज्ज्ञानमेकचक्रेण रथः प्रयाति।

अन्यश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ।।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों और पुण्य-पाप को मिलाकर नव पदार्थों में रुचि होना सम्यग्दर्शन है — तच्चरुई सम्मतं-मोक्खपाहुड, ३८। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का ज्ञान होना भी सम्यग्दर्शन है। वह परोपदेश से अथवा परोपदेश के बिना भी प्रकट होता है। इन दोनों प्रकारों में आत्मप्रतीति होना मूल कारण है। आत्मप्रतीति से सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वह है जिसमें संसार के सभी पदार्थ सही स्थिति में प्रतिबिम्बित हों। प्रमाण और नय इसी सीमा में आते हैं। सम्यक्त्व का महत्त्व “दंसणभट्टा भट्टा” गाथा से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है।

सम्यक् आचरण को सम्यक्चारित्र कहा जाता है जिसमें कोई पाप-क्रियायें न हों, कषाय न हों, भाव निर्मल हों तथा पर-पदार्थों में रागादिक विकार न हों। यह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है — गृहस्थों के लिए और मुनियों के लिए। एक अणुव्रत है दूसरा महाव्रत है। इनमें अणुव्रतों की संख्या बारह है — अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, दिग्ब्रत, देशब्रत और अनर्थदण्डब्रत पंचव्रतों को पालन करने में सहायक बनते हैं और सामायिक,

प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिणाम तथा अतिथि संविभाग इन चार व्रतों का पालन करने से सामाजिकता का पालन होता है।

श्रावक बड़ी महत्वपूर्ण अवस्था है। इसमें व्यक्ति इस अवस्था तक पहुँच जाता है कि वह उपदेश ग्रहण करने का पात्र बन सके। वह बारह व्रतों का पालन घर में रहकर करता है। व्रत पालन करने से धीरे-धीरे उसकी चित्तवृत्तियाँ विशुद्धता की ओर बढ़ती चली जाती है। आत्मा में इस आध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैनधर्म में प्रतिमा कहा गया है। उनकी संख्या बारह है। उनमें प्रारम्भ के छह प्रतिमाधारी गृहस्थ कहलाते हैं और वे जघन्य श्रावक हैं। सात से नवमीं प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी या वर्णी कहा जाता है। वे मध्यम श्रावक हैं तथा दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक भिक्षुक कहलाते हैं और वे उत्कृष्ट श्रावक हैं। उनमें दशवीं प्रतिमा तक साधक श्रावक गृहस्थावस्था में रहता है पर ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने पर उसे गृहत्याग करना आवश्यक हो जाता है। उसके बाद वह परिपूर्ण निष्परिग्रही मुनि बन सकता है।

जैन मुनि २८ मूल गुणों का पालन करता है — पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पञ्चेन्द्रियविजय, छह आवश्यक, केश लुञ्जना, अचेलकता, अस्नानता, भूशौच्या, स्थिति भोजन, अदन्त धावन और एकभुक्ति। इन मूलगुणों के परिपालन से उसके मन में संवेग और वैराग्य की भावना प्रबलतर होती रहती है। वह क्षमादि दश धर्मों का पालन करता है और अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का अनुचिन्तन करता है, बाईस परीषहों को सहजतापूर्वक सहन करता है तथा बाह्य तपों और अन्तरंग तपों का पालन करता है।

### (९) स्वाध्याय

जैन संस्कृति में स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप माना गया है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मकथा के माध्यम से उसे किया जाता है। उसे धर्म में समाहित किया गया है। जैनागम ग्रन्थों में धर्म की उक्त चारों परिभाषाओं को एक स्थान पर भी एकत्रित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी ये परिभाषायें बिखरी पड़ी हुई हैं। उनका सुन्दर सूत्रीकरण आचार्य कार्तिकेय ने किया है। जिसमें स्वाध्यान का रूप प्रतिबिम्बित हुआ है।

**धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।**

**रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।**

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८)

उत्तरकालीन आचार्यों ने भी जहाँ कहीं आचार्य कार्तिकेय का अनुकरण किया है। वस्तुतः ये परिभाषायें धर्म के विविध रूपों को उजागर करती हैं। उनमें कोई भेद नहीं है, वर्णन करने का तरीका ही अलग-अलग है। इन सारी परिभाषाओं की आधारशिला है —

**जं इच्छसि अप्पणत्तो, जं च नं इच्छति अप्पणंतो।**

**तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं।।**

अर्थात् अपने लिये वही चाहो जो तुम दूसरों के लिए भी चाहते हो और जो तुम अपने लिये नहीं चाहते वह दूसरों के लिए भी मत चाहो। यही जिनशासन है। स्वाध्याय के माध्यम से ही यह प्राप्तव्य है।

जैनधर्म में धर्म की ये सारी परिभाषाएँ समता को केन्द्र में रखकर बनाई गई हैं। समता पाने का इच्छुक साधक तब मात्र परम्परा का पालन नहीं करता। वह तो अपने में हर पल क्रान्ति देखता है, नयी ज्योति पाता है। इसलिये धर्म वैयक्तिक है, सामूहिक नहीं। उस ज्योति को पाने में उसे स्वाध्याय सबसे बड़ा सहयोगी तत्त्व सिद्ध होता है और उसी तत्त्व से वह परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है — स्वाध्यायः श्रेयसे मतः।

### (१०) उपयोग और भक्ति

जैन संस्कृति में आत्मा से परमात्मा बनने के लिए शुद्ध भक्ति का आश्रय लिया जाता है। यहाँ आत्मा की व्याख्या 'उपयोग' शब्द के माध्यम से भी की गई है। यह उपयोग चैतन्य का परिणाम है, ज्ञान-दर्शन मूलक है। जो ज्ञानोपयोग इन्द्रियों की सहायता के बिना ही प्रगट होता है वह केवलज्ञान है, स्वभावज्ञान है। शेष चारों ज्ञानों में से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं तथा अन्तिम दो ज्ञान अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही उत्पन्न होते हैं। क्रमशः ये ज्ञान उत्तरोत्तर विमलता को लिये रहते हैं।

यह उपयोग तीन प्रकार का है — शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग। जीवों पर दया, शुद्ध मन-वचन-काय की क्रिया, शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप उपयोग ये शुभोपयोग संवर तथा निर्जरा सहित मुख्यता से पुण्य कर्म के आस्रव के कारण हैं। पूजा, दान आदि में लीन आत्मा शुभोपयोगी होती है, पंच परमेष्ठियों के प्रति भक्ति-भाव से भी शुभोपयोग होता है। प्रशम, संवेग, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ आदि भावनाओं से चित्त विशुद्ध होता है। पर राग, द्वेष, मोह

आदि विकार भाव इस चित्त विशुद्धि को प्राप्त करने में बाधक बनते हैं। कषाय व्यक्ति को बांध देती है, काट देती है, क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, अहङ्कार विनम्रता को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है। इन कषायों से दूर होने पर भी सम्यक् धर्म का उदय होता है। शुभोपायोग रूप व्यवहार धर्म पुण्य का कारण है और अशुभोपायोगी रूप असदाचरण पापकर्मास्त्र का कारण है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव शुद्धोपायोग है जो शुभोपायोग के माध्यम से प्राप्त होता है। शुद्धोपायोग ही मोक्ष का कारण है।

शुभोपायोग व्यवहार धर्म है और शुद्धोपायोग निश्चय धर्म है। जीव का स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द है। जिस अनुष्ठान विशेष से उस आनन्द की प्राप्ति होती है वह धर्म कहा जाता है। वह दो प्रकार का है — एक बाह्य और दूसरा अन्तरंग। पूजा, दान, पुण्य, शील, संयम, व्रत, त्याग आदि बाह्य अनुष्ठान हैं और अन्तरंग अनुष्ठान समता व वीतरागता की साधना करना है। बाह्य अनुष्ठान व्यवहार धर्म है और अन्तरंग अनुष्ठान निश्चयधर्म है। निश्चय धर्म सम्यक्त्व रहित भी होता है। परमसमाधि रूप केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यवहार धर्म भी त्याज्य हो जाता है। इसके बावजूद निश्चय व व्यवहार धर्म सापेक्ष ही हैं, निरपेक्ष नहीं। सम्यक् व्यवहार धर्म संवर तथा कर्मनिर्जरा का तथा परम्परा से मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

श्रमण संस्कृति यद्यपि मूलतः स्व पुरुषार्थवादी संस्कृति है पर व्यवहार में वह अपने परम वीतराग इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति से विमुख नहीं रह सकी। यह स्वाभाविक है और मनोवैज्ञानिक भी। व्यक्ति के मन में जिसके प्रति पूज्य भाव होता है, उसके प्रति निष्ठा, श्रद्धा, आस्था और भक्ति स्वयं स्फुरित होने लगती है और स्वर लय खोजने लगता है। स्तुति और स्तोत्र उसी लय का जीवन्त रूप है। संगीत का माधुर्य और हृदय का स्वर-स्रोत उसी से प्रवाहित होता है। भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिकता के साथ-साथ भौतिक साधनों की प्राप्ति की भी लालसा जाग्रत होती है और उसी लालसा से मन्त्र-तन्त्र का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए भक्ति अध्यात्म का निष्पन्द है और मन्त्र-तन्त्र उसके पत्र-पुष्प। निर्वाण-प्राप्ति उसका फल और लक्ष्य है।

इस भूमिका पर बैठकर जब हम आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों को देखते हैं, टटोलते हैं तो पाते हैं कि भक्ति वह आराधना है जो वीतराग देव के प्रति शुद्ध रत्नत्रय-परिणामों से की जाती है। वस्तुतः वह शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना

है।<sup>१</sup> व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टि पंच परमेष्ठियों की आराधना-भक्ति करता है, विशुद्ध भावों के साथ उनके प्रति अनुराग व्यक्त करता है। यह भक्ति-दर्शन-विशुद्धि आदि के बिना हो नहीं सकती।

इस भक्ति की छह आवश्यक क्रियायें हैं — सामायिक, वन्दना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। स्तुतियों में तीर्थङ्करों का स्तवन होता है और कायोत्सर्ग में निश्चल सीधे खड़े होकर २७ श्वासों में गमोकार मन्त्र का जप किया जाता है। प्रत्येक क्रिया के साथ भक्ति पाठों का निर्देश है। दैनिक और नैमित्तिक क्रियाओं में इन्हीं भक्तिपाठों का प्रयोग किया जाता है।

भक्ति तन्त्र से मन्त्र परम्परा का उद्भव हुआ। भक्ति के प्रवाह में आकर साधक परमात्मा की स्तुति करता है और उस स्तुति में वह वाचाल हो उठता है। मन्त्र उस वाचालता को कम करता है और मन को एकाग्र करके आध्यात्मिक अनुभव को पाने का प्रयत्न करता है। नामस्मरण, श्रवण, मनन, चिन्तन की पृष्ठभूमि में मन्त्र की उत्पत्ति होती है, मांगलिक कार्य करने के लिए इष्टदेव की स्तुति होती है, समास-पद्धति का आधार लेकर भगवान् का अनुचिन्तन होता है और मंगलवाक्य के रूप में मन्त्र की रचना हो जाती है।

विस्तार से समास की ओर जाने की यह एक सर्वमान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन्त्र-तन्त्र परम्परा भी उसी से सम्बद्ध है। स्वानुभूति की सरसता का पान करने के लिए मन्त्र ही एक ऐसा माध्यम है जिसमें मानसिक चंचलता की दौड़ को विराम दिया जा सकता है। इसलिए मन्त्र की परिधि में समग्र तत्त्व-चिन्तन आ जाता है जो हमारे शुभ-अशुभ भावों के साथ घूमता रहता है। मन्त्र की सार्थकता हमारे भावों पर अधिक निर्भर करती है। जैनधर्म चूँकि भावों की शुद्धि और अहिंसक आचरण पर अधिक जोर देता है इसलिए शैव और वैष्णव शाक्त परम्पराओं का प्रभाव होने पर भी जैन मन्त्र-तन्त्र परम्परा पर उनकी हिंसक मान्यता की कोई छाप दिखाई नहीं देती। कोई भी यक्ष, यक्षिणी, देवी-देवता ऐसा नहीं माना गया जिसका आकार-प्रकार वीभत्स और दुष्ट हो या हिंसा की गन्ध उसमें आती हो। यह विशेषता जैन संस्कृति की प्रगाढ़ अहिंसक भावना का फल है।

हवन, यज्ञ आदि क्रियायें भी यद्यपि जैन संस्कृति की मूल क्रियायें नहीं हैं फिर भी उन्हें धर्म का अंग मान लिया गया है। आचार्य हरिभद्र और जिनसेन के चिन्तन में इन क्रियाओं को वैदिक संस्कृति से लेकर अपने ढंग से आत्मसात्

१. नियमसार, १३४; समयसार, ता.वृ. १७४-१७६.

किया गया है। विशेषता यह है कि जैन संस्कृति ने उसे व्यवहार धर्म का अंग बना दिया और अहिंसात्मकता की परिधि के भीतर उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यवहार धर्म जैन संस्कृति में निश्चय धर्म के लिए सोपानवत् काम करता है। इसलिए वह भक्ति का अभिन्न अंग है और उपेक्षणीय नहीं है। इसका फल यह हुआ कि भक्ति शास्त्र का जन्म हुआ और मन्त्र-तन्त्र परम्परा स्तुतियों और स्तोत्रों का सृजन हुआ। निश्चय और व्यवहार धर्म के समन्वय से अहिंसा की परिधि में रहकर जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति के समीप पहुँचकर भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम रही। शाकाहार की प्रतिष्ठा और पर्यावरण की सुरक्षा का आह्वान सबसे पहले जैन संस्कृति ने ही किया जो उसकी मूल अवधारणा का अंग था।

### (११) सामाजिक समता

जैन संस्कृति भाव प्रधान संस्कृति है। इसलिए वहाँ ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान स्थान रहा है। वैदिक संस्कृति में प्रस्थापित जातिवाद की कठोर शृंखला को काटकर महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार दिया। उन्होंने कहा कि उच्च कुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊँचा तभी हो सकता है जबकि उसका चारित्र्य या कर्तृत्व ऊँच हो, विशुद्ध हो। इसलिए महावीर ने समानता के आधार पर चारों जातियों को नई व्यवस्था की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में प्रस्तुत किया — मनुष्यजातिरेकैव।

**कम्मणा बम्भणो होई, कम्मणा होई खत्तियो।**

**वइस्सो कम्मणो होई, सुद्धो होई कम्मणो।।**

उत्तरा. २५.१९.२१

इसी सामाजिक समता के आधार पर महावीर ने सभी जातियों और सम्प्रदाय के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया और उन्हें विशुद्ध आचरण देकर वीतराग के पथ पर बैठा दिया। यही कारण है कि जैनाचार्यों में सभी जातियों के आचार हुए हैं। इसी प्रकार नारी को भी दासता से मुक्त कर उसे सामाजिक समता व ही देहली पर नहीं खड़ा किया बल्कि निर्वाण-प्राप्ति का भी अधिकार घोषित किया। यह उस समय का बहुत बड़ा क्रान्तिकारी सिंहनाद था। दास मुक्ति नारी मुक्ति और जातिभेद मुक्ति के क्षेत्र में जैन संस्कृति का यह अवदान अविस्मरणीय है।

## (१२) वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और कर्मवाद

जैन संस्कृति वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर विश्वास करती है। इसलिए उसने व्यक्ति को ही उसके सुख-दुःख का पूर्ण उत्तरदायी बनाया है। ज्ञान और अध्यात्म में समन्वय स्थापित कर हमारे आचरण की कार्य-कारणात्मक मीमांसा में उसने कर्मवाद को स्थापित कर ईश्वरवाद को नकार दिया है। संसार की विभिन्नता में कर्म को भी कारण बतलाकर उसे अनादि तथा शान्त बताया और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को पूर्ण वीतरागता तथा विशुद्धि के माध्यम से प्रशस्त किया।

कर्म अदृश्य है और पौद्गलिक है। उसे हम वासना और संस्कार नहीं कह सकते, क्योंकि वे तो धारणा या स्मृति से सम्बद्ध हैं। अच्छाई या बुराई से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध है हमारे कर्म से, राग-द्वेष से। राग-द्वेष का वलय ही हमारे आचरण का आधार बन जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के योग से कर्माश्रव होते हैं। वे सहज नहीं, आगन्तुक हैं। उनके वर्तमान के साथ अतीत और भविष्य भी जुड़ा रहता है।

अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का संयोग सम्बन्ध वैसे ही हो जाता है जैसे अमूर्त आकाश का मूर्तघट से सम्बन्ध होकर वह घटाकाश, पटाकाश की संज्ञा पा जाता है। यह पौद्गलिक कर्म हमारे भावकर्म पर निर्भर करता है। भावचित्त का संवादी होता है। पौद्गलिकचित्त और पौद्गलिक चित्त का संवादी होता है—स्थूल शरीर। कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों आपस में गुंथे हुए हैं। उन्हें किसी ईश्वररूप नियन्ता या नियामक की आवश्यकता नहीं होती। कर्म का विपाक स्वयं हो जाता है या तप से उनकी निर्जरा कर ली जाती है। इसे हम उदात्तीकरण या मार्गान्तरिकरण भी कह सकते हैं।

आत्मा में अचिन्त्य ज्ञान-दर्शन शक्ति का प्रस्फुटन कर्म-निर्जरा के बाद ही होता है। इस अवस्था को कोई भी व्यक्ति अपनी साधना से प्राप्त कर सकता है। यहां आत्मा की ही तीन अवस्थायें हैं — बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा संसारावस्था है। अन्तरात्मा विशुद्ध पथ पर चलना है और परमात्मा पूर्ण वीतराग अवस्था है। ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। संसार की सृष्टि निमित्त-उपादान से स्वयमेव होती रहती है। व्यक्ति अपने ही श्रम और पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है

## (१३) दार्शनिक अवदान

जैनधर्म की समूची अवधारणाएं स्वानुभूति पर टिकी हुई हैं। इसलिए अहिंसा और समतावाद इस दर्शन की मूल भित्ति बनी। दार्शनिक क्षेत्र में भी इसी भित्ति



पर प्रतिष्ठित होकर अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, और प्रमाणवाद को संस्थापित किया, भेदविज्ञान ने अध्यात्म को पुख्ता किया और उत्पादव्यय- ध्रौव्यात्मक तत्त्ववाद ने संसार के स्वरूप को स्पष्ट किया।

बौद्धधर्म भेदवादी और असत्कार्यवादी है, न्याय-वैशेषिकों ने असत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा की, सांख्य-योग सत्कार्यवादी हैं, मीमांसक बाह्यार्थवादी होकर परिणामवादी हैं। ये सभी दर्शन भेदवादी रहे हैं। जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद के आधार पर भेदभेदवाद की बात कहकर सदसत्कार्यवाद की संस्तुति की और इसी में क्षणभंगुरतावाद के सही दर्शन कराये।

जैन दर्शन ने आत्मा को नित्य, विशुद्ध और ज्ञान-दर्शन आदि गुणमय माना, परन्तु यह भी कहा कि मिथ्यात्व और अज्ञानता के कारण उसका यह स्वरूप धूल धूसरित हो जाता है। योगनिरोध से उस विशुद्ध मूल रूप को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा का यह स्वतन्त्र अस्तित्व जैनदर्शन की एक विशिष्ट देन है। मन को पौद्गलिक कहकर इस विचार को और भी पुख्ता कर दिया है।

यहां ईश्वर न तो जगत् का सृष्टिकर्ता है और न कर्म-फलप्रदाता। सृष्टि तो अणु-स्कन्धों के स्वाभाविक परिणमन से होती है। उसमें चेतन-अचेतन अथवा अन्य कारण कभी-कभी निमित्त अवश्य बन जाते हैं पर उनके संयोग-वियोग में ईश्वर जैसा कोई कारण नहीं होता। अपनी कारण-सामग्री के संवलित हो जाने पर यह सब स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। संसार को षड्रव्यात्मक कहकर और काल स्वतन्त्र द्रव्य को मानकर इस विचार को और भी परिपुष्ट किया है।

प्रमाण का स्वरूप-मन्थन करते हुए जैनाचार्यों ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना और उसे स्व-पर प्रकाशक कहकर अविश्ववादी होना आवश्यक कहा। सन्निकर्ष को यहां साधकतमकरण न मानकर ज्ञान को ही साधकतमकरण माना है। जैन दर्शन प्रमाणसंप्लववादी है। वह वेद को अपौरुषेय न मानकर प्रमाण को स्वतः और परतः दोनों मानता है। उसने निश्चयात्मक सविकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष कहकर प्रत्यक्ष और परोक्ष की स्वतन्त्र अवधरणा दी है। यही चिन्तन उसकी विशिष्ट देन है।

### (१४) कलात्मक अवदान

कला आत्मानुभूति का पर्यायार्थक शब्द है। इसका सम्बन्ध मूल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति से है। इसलिए इसमें अध्यात्म का भी निर्झर झरता है और इसी

के माध्यम से रागादि विकारों की भी खुलेपन से जानकारी दी जाती है। जैन संस्कृति में कला का मूल उद्देश्य अध्यात्म की अभिव्यक्ति है और सारी अभिव्यक्तियाँ उसी के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।

जैन साधकों ने कला और स्थापत्य को एक नया आयाम दिया है। उन्होंने मूर्तिकला, वास्तुकला, अभिलेख, पाण्डुलिपि, चित्रशैली आदि सभी क्षेत्रों को परिष्कृत किया है। हड़प्पा और लोहानीपुर से प्राप्त मस्तक विहीन नग्न कायोत्सर्गी मूर्तियाँ तथा मोहनजोदड़ो से प्राप्त इसी तरह की अन्य मूर्तियों की अवस्थिति को कदाचित् मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनों का महत्त्वपूर्ण अवदान कहा जा सकता है। खारवेल के शिलालेख ने नन्दकालीन कलिंग जिन की मूर्ति का उल्लेख कर इस अवदान पर एक और हस्ताक्षर कर दिया है। मथुरा के कंकाली टीले में छिपी जैन कला सम्पदा ने तो और भी उसे समृद्ध कर दिया है। श्रवणबेलगोला की बाहुबली प्रतिमा तो विश्रुत है ही। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि शासन देवी-देवताओं के आने के बावजूद मूर्तिकला के क्षेत्र में अहिंसा का ही प्राधान्य रहा है। उसमें किसी भी मूर्ति के साथ हिंसक तत्त्व नहीं जुड़ा हुआ है। तन्त्र-मन्त्र का क्षेत्र भी अहिंसक ही रहा है।

मूर्तिकला के साथ ही गुफाओं और वास्तुकला का सम्बन्ध भी अविच्छिन्न है। बराबर, नागार्जुनी पहाड़, उदयगिरि- खण्डगिरि, रानीगुफा, गिरनार गुफायें, सोनभण्डार तथा दक्षिणापथ की मदुरै, रामनाथपुरम्, सितन्नवासल आदि में प्राप्त जैन गुफायें विशेष उल्लेखनीय हैं। आयागपट्ट, स्तूप, सरस्वती मूर्तियों, मन्दिर आदि के निर्माण ने वास्तुकला को और भी समृद्ध किया। नागर, वेसर और द्राविड शैलियों के साथ ही अन्य प्रादेशिक शैलियों का भी भरपूर प्रयोग जैन साधकों ने किया है। समूचे भारतवर्ष में जैन स्थापत्यकला फैली हुई है। शैलोत्कीर्ण गुफा मन्दिरों के अतिरिक्त पल्लव, चालुक्य, होयसल आदि सभी शैलियों में मन्दिरों का निर्माण हुआ है।

चित्रकला भावाभिव्यक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। उसमें उपदेश और सन्देश देने की अनूठी क्षमता है। जैनाचार्यों ने जैनधर्म के प्रचार में इसका समुचित उपयोग किया है। नायाधम्मकहाओ, वरांगचरित, आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में चित्रकला का अच्छा वर्णन मिलता है। चित्रकला के भेदों में प्रमुख भेद है — भित्तिचित्र, कर्गलचित्र, काष्ठचित्र, पटचित्र, रंगावलि अथवा धूलिचित्र।

प्राचीनतम भित्तिचित्र शित्तनावासल के जैन गुफा मन्दिर में मिलते हैं। वहाँ जलाशय का एक सुन्दर चित्र बनाया गया है। एलोरा और श्रवणवेलगोला के

मठों में भी यह चित्र परम्परा दिखाई देती है। यह परम्परा ११वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रही। उसके बाद ताड़पत्रों पर चित्रांकन प्रारम्भ हो गया। मूडवद्री, पाटन आदि ग्रन्थ भण्डारों में यह चित्रांकन सुरक्षित है।

कर्गल (कागज) चित्र लगभग १४वीं शती के बाद अधिक मिलते हैं। पाण्डुलिपियों में कथाओं को चित्रांकित किया जाता था। कालकाचार्य कथा शान्तिनाथचरित, सुपासनाहचरिय, यशोधरचरित, कल्पसूत्र आदि को चित्रों में बांधा गया है। इस चित्रांकन में समृद्धि शैली, तैमूर चित्र शैली आदि का उपयोग हुआ है। इनमें रंगयोजना, विविध मुद्रायें, वेश-भूषा तथा स्थापत्य की अनेक परम्पराओं का अंकन हुआ है।

काष्ठ चित्र पाण्डुलिपियों पर लगे काष्ठफलकों पर बनाये जाते थे। इन पर विद्यादेवियों, तीर्थङ्करों और पशु-पक्षियों तथा मानवाकृतियों का अंकन किया जाता था। राजस्थान और गुजरात में इस शैली का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार पटचित्र और धूलिचित्र के भी उल्लेख साहित्य में मिलते हैं।

चित्रकला के इन विविध रूपों में जैन साधकों ने अपनी धार्मिक भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति की है। उसके माध्यम से अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन, मनोदशाओं का अभिव्यञ्जन तथा रूप-भावना और आकृति-सौन्दर्य का चित्रण बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है।<sup>१</sup>

### (१५) एकात्मकता और राष्ट्रीयता

जैन संस्कृति में एकात्मकता और राष्ट्रीयता को उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना चरित्र को। धर्म और संस्कृति परस्पर गुथे हुए अविच्छिन्न अंग हैं। उनकी सांस्कृतिकता व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की एक अजीब नब्ज हुआ करती है जिसकी धड़कन को देख-समझकर उसकी त्रैकालिक स्थिति का अन्दाज लग जाता है। हमारी भारतीय संस्कृति में उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन आये पर सांस्कृतिक एकता कभी विच्छिन्न नहीं हो सकी। उसमें एकात्मकता के स्वर सदैव मुखरित होते रहे। इतिहास के उदय काल से लेकर आज तक इस वैशिष्ट्य को जैन संस्कृति सहेजे हुये है।

राष्ट्र एक सुन्दर मनमोहक शरीर है। उसके अनेक अंगोपांग हैं जिनकी प्रकृति और विषय भिन्न-भिन्न हैं। अपनी सीमा से उनका बन्धत्व है, लगाव है

१. विशेष जानकारी के लिए देखिये— लेखक का ग्रन्थ 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास', नागपुर विश्वविद्यालय, १९७७.

और इसी लगाव से उनमें परस्पर संघर्ष भी होते हैं। इन सबके बावजूद वे मूल आत्मा से पृथक् होते दिखाई नहीं देते। आत्मा के नाम पर उनमें एकात्मकता सदैव बनी रहती है। यह एक ऐसी अन्विति है जिसमें बाह्य तत्त्व भी चिपक जाते हैं, रम जाते हैं और एक ही तत्त्व में समाहित हो जाते हैं।

हमारे राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की शृंखला से स्नेहिलतापूर्वक भली-भांति जुड़ा हुआ है जिसमें जैन संस्कृति का अनूठा योगदान है। राष्ट्रीयता का जागरण उसके विकास का प्राथमिक चरण है। जन-जन में और मन-मन में शान्ति, सह-अस्तित्व और चतुर्मुखी अहिंसात्मकता उसका चरमबिन्दु है। विविधता में पली-पुसी एकता, सौजन्य और सौहार्द को जन्म देती हुई “परस्परपग्रहो जीवानाम्” का हृदयहारी पाठ पढ़ाती है और सज्जनता को प्रतिफलित करती है।

भाषा, धर्म, जाति और प्रादेशिकता एकता को विखण्डित करने के प्रबल कारण होते हैं। उनकी संकीर्णता से बंधा व्यक्ति न्याय और मानवता की दीवालों को लांघकर हिंसक क्रूर और आततायी हो जाता है। उसकी दृष्टि स्वार्थपरता के जहर से दूषित हो जाती है, हेयोपादेय के विवेक से मुक्त हो जाती है, सीमितता के चकाचौंध से अंधिया जाती है और हिंसक व्यवहार को जन्म देती है।

भाषा अभिव्यक्ति का एक स्वतन्त्र और सक्षम साधन है, साध्य नहीं है। जहां वह साध्य हो जाता है वहां आसक्तियों और संकीर्णताओं के घेरे में मनोमालिन्य, झगड़े-फसाद और कलह की चिनगारियाँ विषाद उगलने लगती हैं, चेतना समाप्त हो जाती है, होश गायब हो जाता है। मात्र बच जाता है विरोध, वैमनस्य और प्रादेशिकता की सड़ी गली भावनायें।

एक वर्ग विशेष धर्म को अफीम मानता आया है। उसका दर्शन जो भी हो पर यह तथ्य इतिहास के पत्रों से छिपा नहीं है कि जब भी धार्मिक उन्माद उभरा अल्पसंख्यकों पर मुसीबत आयी और धर्म के नाम पर उन्हें बुरी तरह कुचला गया। धर्म का यदि सुपाक न हुआ हो तो वह विष से भी बदतर सिद्ध होता है। धर्म के अन्तस्तल तक पहुँचना सरल नहीं होता। तथाकथित धार्मिक और राजनीतिक नेता जब धर्म के मुखौटे को ओढ़कर जनसमुदाय की भावनाओं को उभारकर अपना उल्लू सीधा करते हैं तो वस्तुतः वे किसी देशद्रोही से कम नहीं हैं। भूसे से भरा उनका दिमाग और उगल भी क्या सकता है? धर्म की गली सकरी होती नहीं, बना दी जाती है और उसे इतनी सकरी बना देते हैं हमारे अहंमन्य नेता कि उसमें दूसरा कोई प्रवेश कर ही नहीं पाता। प्रवेश के अभाव में खून-खच्चर होने की आशंकायें बढ़ जाती हैं, संयम की सारी अर्गलायें

टूट जाती हैं और अमानवीय भावनाओं को अनधिकृत प्रवेश मिल जाता है।

हमारी सारी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु आज धर्म और जाति बन गया है। धर्मनिरपेक्षता की बात आज मात्र धोखे की टट्टी हो गई है। शैक्षणिक संस्थायें भी इस कराल गरल से बच नहीं पा रही हैं। कुर्सी बचाने और पाने की प्रवृत्ति ने हमारी नैतिकता पर कठोर पदाघात किया है। उसने नयी पीढ़ी के खून में अजीबोगरीब मानसिकता भर दी है, संस्कार दूषित कर दिये हैं और निकम्मेपन और कठमुल्लेपन को जन्म दिया है। आज भले और ईमानदार आदमी का जीवन दूभर होता जा रहा है। उसकी कराहती आवाज को सुनने वाला तो दूर सान्त्वना देने वाला भी नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में हमारा देश कहाँ जायेगा यह अनबुझी पहेली बन गई है।

इतिहास के भूले-बिसरे पत्रों को यदि हम खोलकर पढ़ें तो यह तथ्य उद्घाटित हुए देर नहीं लगेगी कि हमारी भारतीय संस्कृति का धवल आँचल कभी मैला नहीं हुआ। आदिकाल से लेकर अभी तक वर्ण व्यवस्था की मूल आत्मा जब भी अपने पथ से भटकती, समाज में क्रूरता के दर्शन अवश्य हुए पर उस स्वार्थपरता भरी अहंमन्यता को वास्तविकता का चोला नहीं माना जा सकता। वह तो वस्तुतः ऐसी सड़ांध रही है जिसमें गर्दीली जातीयता और धार्मिक कट्टरता पनपी और न जाने कितने असहाय वर्गों को वैतरणी का विषपान करना पड़ा। ऐसे अपुनीत, असामाजिक और मानवीय दूषित कदमों को भारतीय संस्कृति का अंग नहीं कहा जा सकता। वह तो वस्तुतः विकृत मानसिकता का अंग रही है। आर्य-अनार्य की भेदक रेखा के पीछे भी ऐसे ही गहिरे तत्त्वों का हाथ रहा है। सरस्वती नदी का तट ऋग्वैदिक मन्त्रों से पवित्र हुआ पर धर्म के नाम पर पशु-हिंसा से उसका पुनीत जल रक्तंजित होने से भी नहीं बच सका। ऋग्वैदिक कालीन नैतिक आदर्शों की व्याख्या उत्तरकाल में बदलनी पड़ी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और यदुवंशी भगवान् कृष्ण ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के बीच की सुदृढ़ कड़ियाँ बन गये और भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक मूल स्वर और अधिक मिठास लेकर गुञ्जित होने लगे। इस मिठास को पैदा करने में जैनधर्म का बेजोड़ हाथ रहा है।

ब्राह्मण परम्परा की अनुश्रुतियों में लिच्छिवि, मल्ल, मोरिय आदि जातियों को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य जन्मतः क्षत्रिय और आर्य जाति के थे, जो मूलतः मध्य देश के पूर्व या उत्तर-पश्चिम में रहते थे। उनकी भाषा प्राकृत थी और वेशभूषा अपरिष्कृत थी। वे चैत्यों की पूजा करते थे। आर्य द्रविड़ों, नाग, पणि और

विद्याधर जाति से भी उनके सम्बन्ध थे। वर्णसंकरता उनमें बनी हुई थी। फिर भी अपने को वे क्षत्रिय मानते थे और श्रमण संस्कृति के पुजारी थे। उनके वैदिक यज्ञ विधान और जातिवाद के विरोधक प्रखर स्वर में आध्यात्मिकता व औपनिषदिक विचारधारा का उदय ब्राह्म्य संस्कृति का ही परिणाम है जहाँ वैदिक यज्ञों को फूटी नाव की उपमा दी गई है।

श्रमण व्यवस्था ने उस एकात्मकता को अच्छी तरह परखा था और संजोया था अपने विचारों में जिन्हें तीर्थङ्करों और जैनाचार्यों ने समता, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन को प्रमुखता देकर जीवन क्षेत्र को एक नया आयाम दिया और जिसे महावीर और बुद्ध जैसे महामानवीय व्यक्तित्वों ने आत्मानुभूति के माध्यम से पुष्पित-फलित किया। श्रमण संस्कृति ने वैदिक संस्कृति में धोखे से आयी विकृत परम्पराओं के विरोध में अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और अनायास ही समाज का नवीनीकरण और स्थितिकरण कर दिया। इस समाज की मूल निधि चारित्रिक पवित्रता और अहिंसक दृढ़ता थी जिसे उसने थाती बनाकर कठोर झंझावातों में भी संभालकर रखा। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के माध्यम से समन्वय और एकात्मकता के लिए जो अथक प्रयत्न जैनधर्म ने किया है वह निश्चय ही अनुपम माना जायगा। बौद्धधर्म में तो कालान्तर में विकृतियाँ आ भी गईं पर जैनधर्म ने चारित्र के नाम पर कभी कोई समझौता नहीं किया।

अब मात्र संस्कृत ही साहित्यकारों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं था। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी लोकबोलियों ने भी जनमानस की चेतना को नये स्वर दिये और साहित्य सृजन का नया प्रांगण खुल गया। इस समूचे 'साहित्य में एकात्मकता का जितना सुन्दर ताना-बाना हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। अर्हन्तों और बोधिसत्त्वों की वाणी ने जीवन-प्रासाद को जितना मनोरम और धवल बनाया उतनी ही उनके प्रति आत्मीयता जाग्रत होती रही। फलतः हर क्षेत्र में उनका अतुल योगदान सामने आया। भावात्मक एकता की सृजन-शक्ति भी यहीं से विकसित हुई।

इसी बीच मगध साम्राज्य का उदय हुआ। विदेशी आक्रमण हुए। उस राजनीतिक अस्थिरता को दूरकर एकता प्रस्थापित करने का काम किया— राष्ट्रनिर्माता कुशल प्रशासक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिसने जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण प्रदेश की यात्रा की और दिगम्बर मुनिव्रत धारण कर श्रवणबेलगोला में समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग दिया। अशोक (२६८-६९ ई०पू०) भी मूलतः जैन सम्राट् था जिसमें धार्मिक सहिष्णुता, सार्वभौमिकता, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति,

अहिंसात्मक भावना, सद्विचार और एकात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई थी।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद पुष्पमित्र शुंग ने ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की। आन्ध्र-सातवाहन आये जिन्होंने प्राकृत भाषा को विशेष आश्रय दिया। कलिंग खारवेल भी जैन सम्राट् था जिसने मगध साम्राज्य से युद्ध कर कलिंग जिनमूर्ति को वापिस प्राप्त किया। इसी समय मूर्तिकला के क्षेत्र में गान्धारकला ने एक नयी दृष्टि-सृष्टि दी। मथुरा कला का भी अपने ढंग का विकास हुआ और वहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक तीनों सम्प्रदाय समान रूप से विकास करते रहे। मथुरा की जैनकला कदाचित् प्राचीनतम कला है।

गुप्तकाल को हमारे इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि प्रखर जैन विद्वान इसी काल में हुए जिन्होंने समन्वयवादिता पर विशेष जोर दिया। इसी युग में देवर्धिगणि द्वारा ४५३ ई० में वल्लभी में जैनागमों का संकलन हुआ।

गुप्त काल के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। इस काल में हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता विशेष निदर्शनीय है। हर्ष की मृत्यु (६४६ ई०) के उपरान्त उत्तर भारत में पाल, सेन, परमार, कलचुरि आदि कितने ही छोटे-मोटे राजा हुए जिन्होंने हमारी संस्कृति को सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि उसे बहुत कुछ दिया भी है। वाकाटक, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने भी जैनधर्म का पालन करते हुए सांस्कृतिक एकता के यज्ञ में अपना योगदान दिया।

पूर्व मध्यकाल में चालुक्य, पाल, चेदि, चन्देल आदि वंश आये जिन्होंने शैव और वैष्णव मत का विशेष प्रसार किया। शाक्त और नाथ सम्प्रदाय भी उदित हुए। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, दिक्पाल आदि की पूजा का प्रचलन बढ़ा और अवतारवाद का खूब प्रचार-प्रसार बढ़ा। इसी काल में बौद्धधर्म की तान्त्रिकता ने उसे पतन का रास्ता बता दिया। पर जैनधर्म अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति में रहा। विशेषतः दक्षिण भारत में उसे अच्छा राज्याश्रय मिला। यद्यपि लिंगायत सम्प्रदाय द्वारा ढाये गये अत्याचारों को भी उसे झेलना पड़ा। फिर भी अपनी चारित्रिक निष्ठा के कारण जैनधर्म नामशेष नहीं हो सका। यह इसलिए भी हुआ कि जैनधर्म वैदिक धर्म के अधिक समीप आ गया था। कला के क्षेत्र में उसका यह रूप आसानी से देखा जा सकता है।

जैनधर्म प्रारम्भ से ही वस्तुतः एकात्मकता का पक्षधर रहा है। उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त अहिंसा की पृष्ठभूमि में एकात्मकता को ही पुष्ट करता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। हिंसा के विरोध में अभिव्यक्त अपने ओजस्वी

और प्रभावक विचारों से जैनाचार्यों ने एक ओर जहाँ दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयास किया वही मानव-मानव के बीच पनप रहे अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करने का भी मार्ग प्रशस्त किया। समन्तभद्र ने उसी को सर्वोदयवाद कहा था। हरिभद्र और हेमचन्द्र ने इसी के स्वर को नया आयाम दिया था। प्रारम्भ से लेकर अभी तक सभी जैनाचार्य अपने उपदेश और साहित्य सृजन के माध्यम से एकात्मकता की प्रतिष्ठा करने में ही लगे रहे हैं। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं जिसमें जैन धर्मावलम्बियों ने किसी पर आक्रमण किया हो और एकात्मकता को धक्का लगाया हो। भारतीय संस्कृति में उसका यह अनन्य योगदान है जिसे किसी भी कीमत पर झुठलाया नहीं जा सकता। मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा मन्दिरों और शास्त्र भण्डारों के नष्ट किये जाने के बावजूद जैनधर्मावलम्बियों ने अपनी अहिंसा और एकात्मकता के स्वर में आँच नहीं आने दी। यह उनकी अहिंसक धार्मिक जीवन पद्धति और दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक चिन्तन का परिणाम था कि सदैव उसने जोड़ने का काम किया, तोड़ने का नहीं।

#### (१६) लोक बोली प्राकृत का प्रयोग

व्यक्ति और समाज को जोड़ने के लिए मातृभाषा का प्रयोग एक आवश्यक तत्व है। सभी को जोड़ने का और अपनी विचारधारा को सशक्त ढंग से प्रस्तुत करने का भी वह एक महनीय साधन है। तीर्थंकर महावीर ने उस समय बोली जाने वाली प्राकृत को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और अपने दर्शन को जनता के समक्ष रखा। जनता ने भी उसका भरपूर स्वागत किया। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में लोक बोली का प्रयोग निश्चित ही एक क्रान्तिकारी कदम था। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने भी अभिव्यक्ति के लिए इसी साधन को अपनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य प्राकृत में बहुत मिलता है।

जैन संस्कृति की ये मूल अवधारणाएँ मानवतावाद के विकास में सदैव कार्यकारी रही हैं। उन्होंने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र से भ्रष्टाचार दूर कर सर्वोदयवाद और अहिंसावादी विचारधारा को प्रचारित करने का अथक् प्रयत्न किया, धनोपार्जन के सिद्धान्तों को न्यायवत्ता की ओर मोड़ा, मूक प्राणियों की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी संजीविनी से दूर किया, शाकाहार पर पूरा बल देकर पर्यावरण की रक्षा की और सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द वयार से शान्त किया। जीवन के हर अंग में अहिंसा और मद्य, माँस, द्यूत आदि जीवनघाती व्यसनों से मुक्ति के महत्त्व को प्रदर्शित कर मानवता के संरक्षण में जैन संस्कृति ने सर्वाधिक योगदान दिया



है। यह उसकी गहन चरित्र-निष्ठा का परिणाम है। बारह व्रतों में अनर्थदण्डव्रत को जोड़कर उसने और भी महनीय प्रतिष्ठा का काम किया है। पर्यावरण को सुरक्षित रखने का भी उत्तरदायित्व जैनों ने अच्छी तरह निभाया है। उनकी वैज्ञानिक दृष्टि भी उल्लेखनीय रही है। यह तथ्य जैन साहित्य से परिपुष्ट हो जाता है। इसलिए हम यहां जैनाचार्यों द्वारा लिखित साहित्य का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। जैन चिन्तकों का यह साहित्यिक योगदान प्रभूत मात्रा में है।



## साहित्यिक अवदान

साहित्य संस्कृति का उद्वाहक तत्त्व है। संस्कृति के हर कोने को साहित्य के अन्तस्तल में देखा जा सकता है। जैन साहित्य की विविधता और प्राञ्जलता में उसकी संस्कृति को पहचानना कठिन नहीं। जैनाचार्यों ने अपने आपको लौकिक जीवन से समरस बनाये रखा। इसके लिए उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश जैसी लोकभाषाओं किंवा बोलियों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया। आवश्यकता प्रतीत होने पर उन्होंने संस्कृत को भी पूरे मन से अपनाया। यहाँ हम जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का एक अत्यन्त संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे हम उनका विशिष्ट अवदान कह सकते हैं।

### भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्य संस्कृति के अविच्छिन्न अंग हैं, उसके अजस्र स्रोत हैं। अभिव्यक्ति के साधनों में उनका अपना अनुपम स्थान है। समय और परिस्थिति के थपेड़ों में नया धर्म और नयी भाषा का जन्म होता है। समाज की बदलती दीवारें और उनकी अकथ्य कहानी को अचूक रूप से प्रस्तुत करने वाले ये दो ही प्रतिष्ठित रूप हैं— जिन्हें सदियों तक स्वीकारा जाता है। भाषा विचारों का प्रतिबिम्ब है, जिन्हें सुघड़तापूर्वक कागद पर अंकित कर दिया जाता है। पाठक के लिए अनदेखी घटनायें सद्यः घटित-सी दिखाई देने लगती हैं।

प्राकृत भाषाओं में लिखा साहित्य इसी प्रकार की अनुभूतियों और जिज्ञासाओं से आपूरित है। उनका हर पन्ना एक क्रान्तिकारी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं से रंगा हुआ है। कहीं वह दकियानूसी और मूढ़ता से सने तथाकथित सिद्धान्तों का खण्डन करता हुआ दिखाई देता है तो कहीं संसार के घने पीड़ा भरे जंगलों में भटकते हुए प्राणी को सम्यक्-दृष्टि से सिञ्चित चिरन्तन अध्यात्म का सन्देश प्रचारित करते हुए नजर आता है। यज्ञ बहुल हिंसा-अहिंसा की परिभाषा बनाने वाली संस्कृति का विरोध भी यहाँ मुखरित हुआ है। अहिंसा की उस प्राचीन डगमगाती दीवार को तोड़कर नया प्रासाद खड़ा करने का उपक्रम इन दोनों भाषाओं

के साहित्य में स्पष्ट झलकता है। समानता, आत्मशक्ति का वर्चस्व, श्रम की प्रतिष्ठा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का समन्वित पोषण, आत्मा की विस्मृत शक्ति के रूप में विशुद्ध सुखद निर्वाण का अस्तित्व, नैतिक उत्तरदायित्व, समाज का सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान, वर्गविहीन क्रान्ति, मिथकों का तार्किक रूपान्तरण आदि जैसे प्रगतिशील सामाजिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का मूल्याङ्कन करने वाला यही श्रमण साहित्य रहा है। अतः उसे भारतीय साहित्य का नित नवीन अक्षुण्ण अंग माना जाना अपरिहार्य है।

### प्राकृत भाषा और आर्यभाषाएँ

भाषा संप्रेषणशीलता से जुड़ी हुई है। विचारों के प्रवाह के साथ उसकी संप्रेषणशीलता बढ़ती चली जाती है। सृष्टि के प्रथम चरण की भाषा की उत्पत्ति का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। मानवीय इतिहास और संस्कृति की धरोहर का संरक्षण भाषा की प्रमुख देन है। उसके उतार-चढ़ाव का दिग्दर्शन कराना भी भाषा का विशिष्ट कार्य है। इस दृष्टि से प्राकृत भाषा और साहित्य का सही मूल्याङ्कन अभी शेष है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारोपीय भाषा-परिवार में भारतीय आर्यशाखा परिवार से है। विद्वानों ने साधारणतः तीन भागों में इस भाषा-परिवार के विकास को विभाजित किया है -

- १) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल - १६०० ई०पू० से ६०० ई०पू० तक
- २) मध्यकालीन आर्यभाषा काल - ६०० ई०पू० से १००० ई० तक
- ३) आधुनिक आर्यभाषा काल - १००० ई० से आधुनिक काल तक।

प्राकृत भाषायें प्राचीन कालीन जनसामान्य बोलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उन्हें सामान्यतः 'प्राकृत' की संज्ञा दी जाती है। प्राकृत की प्राचीनतम स्थिति को समझने के लिए हमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा। इसका सम्बन्ध भारोपीय परिवार से है जिसकी मूलभाषा 'इयु' अथवा 'आर्यभाषा' रही है। इसका मूल निवास लिथुनिया से लेकर दक्षिण रूस के बीच कहीं था। यहीं से यह गण अनेक भागों में विभाजित हुआ। उनमें से रूस गण मेसोपोटामियन होता हुआ भारत आया। यही कारण है कि ईरान की प्राचीन भाषा और भारत की प्राचीन भाषा का गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषाओं के अध्ययन से यह अनुमान किया जाता है कि यह आर्य शाखा किसी समय पामीर के आस-पास कहीं एक स्थान पर साथ रूनी द्रोगी और वरी

कुछ लोग ईरान की ओर और कुछ भारत की ओर आये होंगे। भारत में आने पर 'इयु' की ध्वनियों में परिवर्तन हो गया। उदाहरण के रूप में इयु का ह्रस्व और दीर्घ अ, ए और ओ इण्डो-ईरानी में लुप्त हो गया। ऋग्वेद और अवेस्ता की तुलना से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में दिखाई देता है। उच्चा, नीचा, दूलभ, पश्चा आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। उस समय तक जनभाषा या बोली के ये रूप विकसित होकर छान्दस् का रूप ले चुके थे। इसके बावजूद उसमें जनभाषिक तत्त्व छिप नहीं सके। जनभाषा के परिष्कृत और विकसित रूप पर ही यास्क ने अपना निरुक्तशास्त्र लिखा। पाणिनि के आते-आते वह भाषा निश्चित ही साहित्यिक हो चुकी होगी। पाणिनि के पूर्ववर्ती शाकटायन, शाकल्य आदि वैयाकरणों में से किसी ने जनभाषा को व्याकरण में परिबद्ध करने का प्रयत्न किया हो तो कोई असम्भव नहीं।

परवर्ती वैदिककाल में देश्य भाषाओं के तीन रूप मिलते हैं — (१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा, (२) मध्यदेशीय विभाषा, (३) प्राच्य या पूर्वीय भाषा। उदीच्य विभाषा सप्तसिन्धु प्रदेश की परिनिष्ठित मध्यदेशीय भाषा मध्यम मार्गीय थी तथा प्राच्य भाषा पूर्वी उत्तर प्रदेश, अवध और बिहार में बोली जाती थी। प्राच्य भाषा-भाषी यज्ञीय संस्कृति में विश्वास न करने वाले प्राच्य लोग थे। भगवान् बुद्ध और महावीर ने इसी जनभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। पालि-प्राकृत भाषाये इसी के रूप हैं। डॉ० सुनीति कुमार चाटूज्या ने इस सन्दर्भ में लिखा है — “ब्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुआ की भाषा बोलते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि पूर्व के आर्य लोग (ब्रात्य) संयुक्त व्यञ्जन, रेफ एवं सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे। संयुक्त व्यञ्जनों का यह समीकृत रूप ही प्राकृत ध्वनियों का मूलाधार है। इस प्रकार वैदिक भाषा के समानान्तर जो जनभाषा चली आ रही थी, वही आदिम प्राकृत थी। पर इस आदिम प्राकृत का स्वरूप भी वैदिक साहित्य से ही अवगत किया जा सकता है।”<sup>१</sup>

आर्यभाषा के मध्यकाल में द्राविड और आग्नेय जातियों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व द्रविड परिवार का ही प्रभाव

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७२; प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ६.

है। छान्दस् में ठ ध्वनि प्राकृत से पहुँची हुई है। वैदिक और परवर्ती संस्कृत में न के स्थान पर ण हो जाना (जैसे फण, पुण्य, निपुण आदि) तथा रेफ के स्थान पर ल हो जाना जैसी प्रवृत्तियाँ भी प्राकृत के प्रभाव की दिग्दर्शिका हैं।

### प्राकृत और छान्दस् भाषा

प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है कि उसका विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस् से हुआ है, जो उस समय की जनभाषा रही होगी। जनभाषा के रूपों को अलग कर छान्दस् का निर्माण हुआ होगा, जो कुछ शेष रह गये उनका उत्तर काल में विकास होता रहा। प्राकृत और वैदिक भाषाओं की तुलना करने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है —

- i) प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता, परन्तु वैदिक भाषा में वह कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता।
- ii) प्राकृत में विजातीय स्वरों का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है। जैसे - निश्वास का नीसास। वैदिक संस्कृत में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे — दुर्नाश का दूर्णाश।
- iii) स्वरभक्ति का समान प्रयोग मिलता है। प्राकृत में स्व को सुव होता है तो वैदिक संस्कृत में भी तन्वः का तनुवः मिलता है।
- iv) प्राकृत में तृतीया का बहुवचन देवेहि मिलता है, तो वैदिक संस्कृत में भी देवेभि मिलता है।
- v) प्रारम्भ में ही प्राकृत में ऋ का इ, अ, ड आदि ध्वनियों में परिवर्तन हुआ जो वैदिक साहित्य में श्रिणोति, शिथिर आदि रूपों में देखा जाता है।

छान्दस् और प्राकृत भाषा की तुलना करने पर यह तथ्य सामने आता है कि उसके पूर्व की जनभाषा प्राकृत थी जिससे छान्दस् साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। छान्दस् साहित्यिक भाषा को ही परिमार्जित कर संस्कृत भाषा का रूप सामने आया। परिमार्जित करने के बावजूद छान्दस् में जो शेष तत्त्व थे उनका विकास होता गया और उसी ने प्राकृत का रूप लिया। छान्दस् से प्राकृत और संस्कृत, दोनों भाषाओं की उत्पत्ति होने पर भी संस्कृत भाषा नियमों और उपनियमों में बंध गई, पर प्राकृत को जनभाषा रहने के कारण बांधा नहीं जा सका। इस दृष्टि से प्राकृत को बहता नीर कहा गया है और संस्कृत को बद्ध सरोवर। प्राचीन प्राकृत से ही उत्तरकाल में मध्यकालीन प्राकृत का विकास हुआ

और मध्यकालीन प्राकृत से ही अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार बोलियों में साहित्य-सृजन होता गया और वे भाषा का रूप लेती गईं। प्राकृत का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ, बल्कि उनसे निरन्तर नई-नई भाषाओं का जन्म होता गया। संस्कृत भाषा भी इन प्राकृत बोलियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

### प्राकृत : जनभाषा का रूप

सदियों से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विवाद के स्वर गूँजते रहे हैं। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में प्राचीनतर तथा मूल भाषा कौन-सी है? इस प्रश्न के समाधान में दो पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम पक्ष का कथन है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है तथा दूसरा पक्ष उसका सम्बन्ध किसी प्राचीन जनभाषा से स्थापित करता है। प्राकृत व्याकरणशास्त्र में दोनों पक्षों का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है—

#### १. प्रथम पक्ष

- i) प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्- हेमचन्द्र।
- ii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते — मार्कण्डेय।
- iii) प्रकृतेः संस्कृतायाः तु विकृतिः प्राकृतिः मता— नरसिंह।
- iv) प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः — वासुदेव।
- v) प्राकृतेः आगतम् प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम् — धनिक।
- vi) संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश भाषणम् — शंकर।
- vii) प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् — सिंहदेवगणिन्।
- viii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् — पीटर्सन।

(प्राकृतचन्द्रिका)

#### २. द्वितीय पक्ष

- i) 'प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयवो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादि- वचनात् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तिजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समोसादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति।

अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोक्ति  
शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृत-मुच्यते-नमिसाधु

ii) सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य गेति वायाओ।

एति समुद् चिय गेंति सायराओ च्चिय जलाइं।। - वाक्पतिराज

iii) यद् योनिः किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते - राजशेखर।

उपर्युक्त दोनों पक्षों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि प्राकृत वस्तुतः जनबोली थी, जिसे उत्तर काल में संस्कृत के माध्यम से समझने-समझाया का प्रयत्न किया गया। प्राकृत भाषा के समानान्तर वैदिक संस्कृत अथवा छान्दस्य भाषा थी, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में विशेष रूप से दृष्टव्य है। यास्क ने इसी पर निरुक्त लिखा और पाणिनि ने इसी को परिष्कृत किया। विडम्बना यह है कि प्राकृत के प्राथमिक रूप को दिग्दर्शित कराने वाला कोई साहित्य उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर उसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सके। हाँ, यह अवश्य है कि प्राकृत के कुछ मूल शब्दों को वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से समझा जा सकता है। वैदिक रूप विकृत, किंकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, प्रथ, ग्रथ, क्षुद्र क्रमशः प्राकृत के विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पट्, घट, क्षुल्ल रूप थे जो धीरे-धीरे जनभाषा से वैदिक साहित्य में पहुंच गये।<sup>१</sup> इन शब्दों और ध्वनियों से यह कथन अतार्किक नहीं होगा कि प्राकृत जनबोली थी जिसे परिष्कृत कर छान्दस्य भाषा का निर्माण किया गया। जनबोली का ही विकास उत्तरकाल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हुआ तथा छान्दस्य भाषा को पाणिनि ने परिष्कृत कर लौकिक संस्कृत का रूप दिया। साधारणतः लौकिक संस्कृत में तो परिवर्तन नहीं हो पाया पर प्राकृत जनबोली सदैव परिवर्तित अथवा विकसित होती रही। संस्कृत भाषा को शिक्षित और उच्चवर्ग ने अपनाया तथा प्राकृत सामान्य समाज की अभिव्यक्ति का साधन बनी रही। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में सामान्य जनों से प्राकृत में ही वार्तालाप कराया गया है।

डॉ० पिशल ने होइफर, नास्सन, याकोबी, भण्डारकर आदि विद्वानों के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है कि प्राकृत का मूल केवल संस्कृत है। उन्होंने सेनार से सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और उनके मुख्य तत्त्व आदि काल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं; किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भाँति ही बहुत

ठोकी-पीटी गई, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।<sup>१</sup> अपने मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों से साम्य बताया और बाद में मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों में सन्निहित प्राकृत भाषागत विशेषताओं को स्पष्ट किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक भाषा उस समय की जनभाषा का परिष्कृत रूप है, उसी प्रकार साहित्यिक प्राकृत उत्तरकालीन बोलियों का परिष्कृत रूप है। उत्तरकाल में तो वह संस्कृत व्याकरण, भाषा और शैली से भी प्रभावित होती रही। फलतः लम्बे-लम्बे समास और संस्कृत से परिवर्तित प्राकृत रूपों का प्रयोग होने लगा। प्राकृत व्याकरणों की रचना की आधारशिला में भी इसी प्रवृत्ति ने काम किया।

### प्राकृत का ऐतिहासिक विकासक्रम

प्राकृत का ऐतिहासिक विकास भी हम तीन स्तरों में विभाजित कर सकते हैं —

१. प्रथम स्तरीय प्राकृत — (१६०० ई०पू० से ६०० ई०पू०) — इस काल की जनबोली का रूप वैदिक या छान्दस् ग्रन्थों में मिलता है।
२. द्वितीय स्तरीय प्राकृत — इस काल में प्राकृत में जो साहित्य लिखा गया उसे तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है —

i) प्रथम युगीन प्राकृत (६०० ई०पू० से ५०० ई०) —

i) अर्ध प्राकृत, (पालि, अर्धमागधी और जैन शौरसेनी), (ii) शिलालेखी प्राकृत, (iii) निया प्राकृत, (iv) प्राकृत धम्मपद की प्राकृत, (v) अश्वघोष के नामों की प्राकृत।

ii) द्वितीय युगीन प्राकृत (प्रथम शती से बारहवीं शती तक) —

अलङ्कार, व्याकरण, काव्य और नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची।

iii) तृतीय युगीन प्राकृत (पञ्चम शती से पन्द्रहवीं शती तक) —

अपभ्रंश।

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि.सं., पृ. ७४.



## प्राकृत और संस्कृत

जैनाचार्यों ने प्राकृत के साथ ही संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। प्राकृत का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसकी बोलियाँ भाषाओं का रूप ग्रहण करती गईं। यह परिवर्तन संस्कृत में नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह था कि पाणिनि आदि आचार्यों ने बहुत पहले ही उसे नियमों से जकड़ दिया, जबकि प्राकृत व्याकरणों की रचना संस्कृत व्याकरणों के आधार पर लगभग दशवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। इस समय तक प्राकृत का विकास अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं की आधारभूमि तक पहुँच चुका था।

ई० की लगभग द्वितीय शताब्दी से जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। उमास्वामी अथवा उमास्वाति इसके सूत्रधार थे जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसा महनीय ग्रन्थ समर्पित किया। गुप्तकाल तक आते-आते संस्कृत और अधिक प्रतिष्ठित हो चुकी। इसके बावजूद वह जनभाषा नहीं बन सकी बल्कि सम्भ्रान्त परिवारों में उसका उपयोग लोकप्रिय अधिक हो गया। सिद्धर्षि (ई० ८०५) ने इस तथ्य को इस प्रकार से स्पष्ट किया है —

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः ।  
 तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्ध हृदि स्थिता ॥  
 बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपिशला ।  
 तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते ॥  
 उपायं सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम् ।  
 आतस्तदनुरोधेन संस्कृतेऽस्य करिष्यते ॥ १

हेमचन्द्र भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। उनके अनुसार ११-१२वीं शताब्दी में भी सर्वसाधारण जनता प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करती थी और अभिजात वर्ग ने संस्कृत भाषा को अपनाया था। काव्यानुशासन कारिका की टीका में लिखा है —

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।  
 अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥

इस प्रकार संस्कृत अभिजात एवं सुशिक्षित वर्ग की भाषा थी, जबकि प्राकृत का प्रयोग अशिक्षित तथा सामान्य वर्ग किया करता था। जैनधर्म के प्रचार-प्रसार

की दृष्टि से जैनाचार्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार करें। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही साधारणतः यह देखा जाता है कि सभी जैनाचार्य इन दोनों भाषाओं के पण्डित रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने दोनों भाषाओं में साहित्य-सर्जना भी की है। अनेक आचार्यों ने तो अपने आपको “उभयभाषाचक्रवर्ती” भी लिखा है। यही कारण है कि जैन साधक आज भी संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भाषाओं में साहित्य-साधना कर रहे हैं।

### अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएँ

प्राकृत भाषा किंवा बोली के चरण आगे बढ़ते गये और अपभ्रंश के रूप में उसका विकास निर्धारित होता गया। यहाँ अपभ्रंश का तात्पर्य है जनबोली अथवा ग्रामीण भाषा। प्रारम्भ में प्राकृत भी अपभ्रंश में गर्भित थी, परन्तु उसके साहित्यिक रूप में आ जाने पर उसका मूल रूप विकसित होने लगा। इसी कुछ विकसित अथवा परिवर्तित रूप को हम अपभ्रंश कहते हैं। धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी साहित्य-सृजन होने लगा और भाषा भी क्रमशः विकसित होती गई। फलतः अवहट्ट आदि सोपानों को पार करती हुई वह भाषा किंवा बोली आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को उत्पन्न करने में कारण बनी।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म इस प्रकार हुआ<sup>१</sup> -

१. शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी, नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती पहाड़ी बोलियाँ।
२. पेशची अपभ्रंश से लहँदा और पंजाबी।
३. ब्राचड़ अपभ्रंश से सिन्धी।
४. महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी।
५. अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी, और
६. मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, उड़िया और असमिया भाषाओं का विकास हुआ है।

---

१. हिन्दी भाषा, १९६६, पृ. ८५.

## प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में

जनभाषा-प्राकृत इस प्रकार इन विभिन्न स्तरों को पार करती हुई आधुनिक युगीन भारतीय भाषाओं तक पहुँची। समय और सुविधाओं के अनुसार उसमें परिवर्तन होते गये और नवीन भाषायें जन्म लेती गयीं। इसलिए देशकाल भेद से इन सभी प्राकृत भाषाओं की विशेषतायें भी पृथक्-पृथक् हो गईं। यहाँ उन विशेषताओं की ओर संकेत करना अप्रासंगिक होगा, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सरलीकरण की प्रवृत्ति इनमें विशेष दिखाई देती है। ऋ का अन्य स्वरों में बदल जाना, ऐ, औ के स्थान पर ए, ओ हो जाना, द्विवचन का लोप हो जाना, आत्मनेपद का रूप अदृश्य हो जाना, श और ष का प्रायः लोप हो जाना, (कहीं-कहीं ये सुरक्षित भी हैं), संयुक्त व्यञ्जनों में परिवर्तन हो जाना आदि कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो प्रायः सभी प्राकृत में मिल जाती हैं।

प्राकृत भाषा—जनभाषा को अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाने वालों में सर्वप्रथम भगवान् महावीर और बुद्ध के नाम लिये जा सकते हैं। ये सिद्धान्त जब लिपिबद्ध होने लगे तब तक स्वभावतः भाषा के प्रवाह में कुछ मोड़ आये और संकलित साहित्य उससे अप्रभावित नहीं रह सका। समकालीन अथवा उत्तरकालीन घटनाओं के समावेश में भी कोई एकमत नहीं रह सका। किसी ने सहमति दी और कोई उसकी स्थिति से सहमत नहीं हो सका। फलतः पाठान्तरों और मत-मतान्तरों का जन्म हुआ। भाषा और सिद्धान्तों के विकास की यही अमिट कहानी है। समूचे प्राकृत साहित्य का सर्वेक्षण करने पर यही तथ्य सामने आता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्राकृत साहित्य २५०० वर्ष से पूर्व का ही माना जा सकता है, परन्तु उसके पूर्व अलिखित रूप में आगमिक साहित्य-परम्परा विद्यमान अवश्य रही होगी। प्राकृत भाषा का अधिकांश साहित्य जैनधर्म और संस्कृति से सम्बद्ध है। उसकी मूल परम्परा श्रुत, आर्ष अथवा आगम के नाम से व्यवहृत हुई है, जो एक लम्बे समय तक श्रुति परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रही। संगीतियों अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इस आगम परम्परा का परीक्षण किया जाता रहा है पर समय और आवश्यकता के अनुसार चिन्तन के प्रवाह को रोक नहीं जा सका। फलतः उसमें हीनाधिकता होती रही है।

## १. प्राकृत जैन साहित्य

प्राकृत जैन साहित्य के सन्दर्भ में जब हम विचार करते हैं तो हमारा ध्यान जैनधर्म के प्राचीन इतिहास की ओर चला जाता है, जो वैदिक काल किंवा उससे

भी प्राचीनतर माना जा सकता है। उस काल के प्राकृत जैन साहित्य को “पूर्व” संज्ञा से अभिहित किया गया है जिसकी संख्या चौदह है — उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तित्नास्तित्प्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह भगवान् महावीररूपी हिमाचल से निकली वाग्गंगा है, जिसमें अवगाहनकर गणधरों और आचार्यों ने विविध प्रकार के साहित्य की रचना की है।

### परम्परागत साहित्य

उत्तरकाल में यह साहित्य दो परम्पराओं में विभक्त हो गया— दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जैन साहित्य दो प्रकार का है — अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट में बारह ग्रन्थों का समावेश है — आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दशांग अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पांच भेद किये गये हैं — परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत के ही उत्पाद आदि पूर्वोक्त चौदह भेद हैं। इन अंगों के आधार पर रचित ग्रन्थ अंगबाह्य कहलाते हैं जिनकी संख्या चौदह है — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृत्तिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक महापुण्डरीक और निषिद्धिका। दिगम्बर परम्परा इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों को विलुप्त हुआ मानती है। उसके अनुसार भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् अंगग्रन्थ क्रमशः विच्छिन्न होने लगे। मात्र दृष्टिवाद के अन्तर्गत आये द्वितीय पूर्व आग्रायणी के कुछ अधिकारों का ज्ञान आचार्य धरसेन के पास शेष था, जिसे उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को दिया। उसी के आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम जैसे विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण किया। श्वेताम्बर परम्परा में ये अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थ अभी भी उपलब्ध हैं। अंगबाह्य ग्रन्थों के सामायिक आदि प्रथम छह ग्रन्थों का अन्तर्भाव कल्प, व्यवहार और निशीथसूत्रों में हो गया।

### अनुयोग साहित्य

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों के आधार पर जो ग्रन्थ लिखे गये उन्हें चार विभागों में विभाजित किया गया है — प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग। प्रथमानुयोग में ऐसे ग्रन्थों का समावेश होता है जिनमें पुराणों, चरितों और आख्यायिकाओं के माध्यम से सैद्धान्तिक तत्त्व प्रस्तुत किये जाते

हैं। करणानुयोग में ज्योतिष और गणित के साथ ही लोकों, सागरों, द्वीपों, पर्वतों और नदियों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इस विभाग के अन्तर्गत आते हैं। जिन ग्रन्थों में जीव, कर्म, नय, स्याद्वाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया गया है, वे द्रव्यानुयोग की सीमा में आते हैं। ऐसे ग्रन्थों में षट्खण्डागम, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का समावेश होता है। चरणानुयोग में मुनियों और गृहस्थों के नियमोपनियमों का विधान रहता है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, वड्डेकर का मूलाचार, शिवार्थ की भगवती आराधना आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

## वाचनाएँ

प्राचीन काल में श्रुति परम्परा ही एक ऐसा माध्यम था जो हर सम्प्रदाय के आगमों को सुरक्षित रखा करता था। समय और परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन की विभिन्न धाराएँ उसमें संयोजित होती जाती थीं। संगीतियों अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इन आगमों का परीक्षण कर लिया जाता था फिर भी चिन्तन के प्रवाह को रोकना सरल नहीं होता था।

### i) पाटलिपुत्र वाचना

भगवान् महावीर के श्रुतोपदेश को भी इसी प्रकार की श्रुति परम्परा से सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया। सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्न आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें श्रुतकेवली कहा गया है। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद तित्थोगालीपड़ना के अनुसार उत्तर भारत में एक द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप संघभेद का सूत्रपात हुआ। दुर्भिक्ष काल में अस्त-व्यस्त हुए श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए थोड़े समय बाद ही लगभग १६२ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में एक संगीति अथवा वाचना हुई जिसमें ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया जा सका। बारहवें अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता मात्र भद्रबाहु थे जो बारह वर्ष की महाप्राण नामक योगसाधना के लिए नेपाल चले गये थे। संघ की ओर से उसके अध्ययन के लिए कुछ साधुओं को उनके पास भेजा गया, जिनमें स्थूलभद्र ही सक्षम ग्राहक सिद्ध हो सके। वे मात्र दश पूर्वों का अध्ययन कर सके और शेष चार पूर्व उन्हें वाचनाभेद से मिल सके, अर्थतः नहीं।<sup>१</sup> धीरे-धीरे काल प्रभाव से दशपूर्वों का भी लोप होता गया।

१. तित्थोगाली, ८०१-२.

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण के ३४५ वर्ष बाद दशपूर्वों का विच्छेद हुआ। अन्तिम दशपूर्व ज्ञानधारी-धर्मसेन थे। श्वेताम्बर परम्परा भी इस घटना को स्वीकार करती है, पर महावीर निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद। उसके अनुसार दशपूर्वज्ञान के धारी अन्तिम आचार्य वज्र थे। श्रुतिलोप का क्रम बढ़ता ही गया। दशपूर्वों के विच्छेद हो जाने के बाद विशेष पाठियों का भी विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के ६८३ वर्षों के बाद घटित मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आर्यवज्र के बाद १३ वर्षों तक आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य रहे। वे साढ़े नव पूर्वा के ज्ञाता थे। उन्होंने विशेष पाठियों का क्रमशः हास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। फिर भी पूर्वा के लोप को बचाया नहीं जा सका।

## ii) माथुरी वाचना

पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के पश्चात् दो दुर्भिक्ष और पड़े-प्रथम महावीर निर्वाण के २९१ वर्ष बाद, आर्यसुहस्ति सूरि के समय, सम्प्रति के राज्यकाल में और द्वितीय ८२७ वर्ष बाद आर्य स्कन्दिल और वज्रस्वामी के समय। इन दुर्भिक्षों के कारण अस्त-व्यस्त हुई आगम परम्परा को व्यवस्थित करने के लिए आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में एक वाचना बुलाई गई।<sup>१</sup> इसी समय हुई एक अन्य वाचना का भी उल्लेख मिलता है जो आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में बलभी में आयोजित की गई थी।<sup>२</sup> मलयगिरि के अनुसार अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करण्डक इसी वाचना के आधार पर संकलित हुए हैं।

## बलभी वाचना

माथुरी और बलभी वाचना के पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद पुनः बलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में परिषद् की संयोजना की गई और उसमें उपलब्ध आगम साहित्य को लिपिबद्ध किया गया। यह संयोजना महावीर के परिनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (सन् ४५३ ई०) हुई। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम इसी परिषद् का परिणाम है। इसमें संघ के आग्रह से विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे, परिवर्तित और परिवर्धित, त्रुटित और अत्रुटित तथा स्वमति

१. श्वेताम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद मानती है और दिगम्बर परम्परा १६२ वर्ष बाद।

२. कहावली, २९८; कल्याणविजय मुनि— वी.नि.सं. और जैन कालगणना, पृ. १०४-१७

से कल्पित आगमों को अपनी इच्छानुसार पुस्तकारूढ़ किया गया ..... श्री संघाग्रहात् ..... विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितात्रुटितान् आगमालोपकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढ़ान् कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमान् कर्ता श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।<sup>१</sup> पुनरुक्तियों को दूर करने की दृष्टि से बीच-बीच में अन्य आगमों का भी निर्देश किया गया। देवर्धिगणि ने इसी समय नन्दिसूत्र की रचना की तथा पाठान्तरों को चूर्णियों में संगृहीत किया। कल्याणविजय जी के अनुसार बलभी वाचना के प्रमुख नागार्जुन थे। उन्होंने इस वाचना को पुस्तक लेखन कहकर अभिहित किया है। सम्पादन की दृष्टि से चूर्णियाँ आदि बहुत उपयोगी हैं।

दिगम्बर परम्परा में उक्त वाचनाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के समान दिगम्बर परम्परा में अंगज्ञान ने कभी सामाजिक रूप नहीं लिया। वहाँ तो वह गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होता हुआ माना गया है।<sup>२</sup> वस्तुतः वह वाचनिक परम्परा बौद्धों की संगीति परम्परा की अनुकृति मात्र है। वाचनाओं के कारण आगम सुरक्षित रह सके, अन्यथा वे और भी विकृत हो जाते।

### श्रुत की मौलिकता

उपर्युक्त वाचनाओं के माध्यम से श्वेताम्बर परम्परा ने दृष्टिवाद को छोड़कर समूचे आगम साहित्य को सुव्यवस्थित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। परन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसकी दृष्टि में तो लगभग सम्पूर्ण आगम साहित्य क्रमशः लुप्त होता गया। जो आंशिक ज्ञान सुरक्षित रहा उसी के आधार पर षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों की रचना की गई। पर इसे भी हम बिलकुल सत्य नहीं कह सकते। यह अधिक सम्भव है कि श्रुतागमों में किये गये परिवर्तनों को लक्ष्यकर दिगम्बर परम्परा ने उन्हें 'लुप्त' कह दिया हो और संघर्ष के क्षेत्र से दूर हो गये हों। डॉ० विण्टरनिट्स<sup>३</sup> भी समूचे आगमों को प्राचीन नहीं स्वीकारते। लगभग एक हजार वर्षों के बीच परिवर्तन-परिवर्धन होना स्वाभाविक है। बेचरदास दोसी ने मूलागम और उपलब्ध आगम में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बलभी में संगृहीत अंग साहित्य की स्थिति के साथ

१. समय सुन्दरगणीरचित समाचारी शतक.
२. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ. ५४३.
३. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ४३१-४३४.

भगवान् महावीर के समय के अंग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाइयों के बीच जितना अन्तर होता है उतना अन्तर-भेद मालूम होना सर्वथा सम्भव हो।<sup>१</sup> वर्तमान में उपलब्ध आगमों में अचेलकता को स्थान-स्थान पर उपादेय और श्रद्धास्पद माना है तथा सचेलकता को भाव की प्रधानता का तर्क देकर स्वीकार किया गया है। डॉ० जैकोबी और वेबर भी आगमों में परिवर्तन-परिवर्धन को स्वीकार करते हैं। यह इससे भी स्पष्ट है कि भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में जो उदाहरण आगमों से दिये गये हैं वे आज उपलब्ध आगमों में अप्राप्य हैं।

जो भी हो, यह निश्चित है कि महावीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद जो ये आगम संकलित किये गये, उनमें परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य हुए हैं। स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में वर्णित कुछ विषय स्पष्टतः उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं।<sup>२</sup> उनका अन्तः - बाह्य परीक्षण कर समय निर्धारण करना अत्यावश्यक है। आगमों में “अद्वे पण्णत्ते”, “सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमत्थ” आदि जैसे शब्द भी परिवर्तन-परिवर्धन के सूचक हैं। दिग्म्बर परम्परा उपलब्ध इन आगमों को उनके मौलिक रूप में स्वीकार कर लेती तो आज आगमों का एक निखरा रूप सामने रहा होता।

### प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण

दिग्म्बर परम्परा में परम्परागत शास्त्रों के लिए प्रायः ‘श्रुत’ और श्वेताम्बर परम्परा में ‘आगम’ शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुत का अर्थ है वे शास्त्र जिन्हें गणधर तीर्थङ्करों से सुनकर रचना करते हैं और ‘आगम’ का अर्थ है परम्परा से आया हुआ। दोनों शब्दों का तात्पर्य लगभग समान है इसलिए कहीं-कहीं दोनों परम्परायें इन दोनों शब्दों का उपयोग करती हुई भी दिखाई देती हैं। इसी सन्दर्भ में अंग, परमागम, सूत्र, सिद्धान्त आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। बौद्ध त्रिपिटक के समान जैनागम को भी आचार्यों ने ‘गणपिटक’ कहा है।<sup>३</sup> इन श्रुत अथवा आगमों के विषय का प्रतिपादन भगवान् महावीर ने किया और उसे गौतम गणधर ने यथारीति ग्रन्थों में निबद्ध किया।

यहाँ हम सुविधा की दृष्टि से प्राकृत जैन साहित्य को निम्न भागों में विभक्त

१. जैन साहित्य में विकार, पृ. २३.
२. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ. ५४३.
३. भगवती सत्र. २५३.



कर सकते हैं —

- (i) आगम साहित्य
- (ii) आगमिक व्याख्या साहित्य
- (iii) कर्मसाहित्य
- (iv) सिद्धान्त साहित्य
- (v) आचार साहित्य
- (vi) विधि-विधान और भक्ति साहित्य
- (vii) कथा साहित्य, और
- (viii) लाक्षणिक साहित्य।

## १. आगम साहित्य

प्राकृत जैनागम साहित्य की दो परम्पराओं से हम सुपरिचित हैं ही। दिगम्ब परम्परा तो उसे लुप्त मानती है, परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उसे अंग, उपांग मूलसूत्र, छेदसूत्र और प्रकीर्णक के रूप में विभक्त किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। इन द्वादशांगों की रचना पूर्व ग्रन्थ परम्परा पर आधारित रही है।

## अंग साहित्य

अंग साहित्य के पूर्वोक्त बारह भेद हैं जिनके कुल पदों का योग ४१५०२०० है। इनकी उल्लिखित विषय सामग्री और उपलब्ध विषय सामग्री में बड़ा अन्तर है।<sup>१</sup>

## १. आचारांग

यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सत्थ परिणाम आ नौ अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पांच। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाणिप साधुओं का कोई उल्लेख भले ही न हो पर उसका झुकाव अचेलकता की ओर अवश्य है। अतः यह भाग प्राचीनतर है। पाणिपत्री साधुओं के अस्तित्व और उत्तरकालीन विकास का परिणाम भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के रूप में लिखा गया है जिनकी संख्या पांच है। चार चूलिकायें आचार

१. देखिये, भ, महावीर और उनका चिन्तन, डॉ. भागचन्द्र जैन, अध्याय :

में और पञ्चम चूलिका विस्तृत होने के कारण पृथक् रूप में निशीथसूत्र' के नाम से निबद्ध है। यह भाग प्रथम श्रुतस्कन्ध के उत्तरकाल का है। इस ग्रन्थ में गद्य और पद्य, दोनों का प्रयोग हुआ है। इसमें मुनियों के आचार-विचार का विशेष वर्णन है। महावीर की चर्या का भी विस्तृत उल्लेख हुआ है। निर्युक्तिकार की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरकृत है। महावीर का जीवन भी यहाँ चमत्कारात्मक ढंग से मिलता है।

## २. सूयगडंग

इसमें स्वसमय और परसमय का विवेचन है। इसे दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं — समय, वेयालिय, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरकविभक्ति, वीरस्तव, कुशील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवशरण, यथातथ्य, ग्रन्थ आदान, गाथा और ब्राह्मण-श्रमण निर्ग्रन्थ। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं — पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यानक्रिया, आचारश्रुत, आर्द्रकीय तथा नालन्दीय। प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय को ही यहाँ विस्तार से कहा गया है। अतः निर्युक्तिकार ने इसे “महा अध्ययन” की संज्ञा दी है। इस ग्रन्थ में मूलतः क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि मतों का प्रस्थापन और उसका खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ खण्डन-मण्डन परम्परा से जुड़ा हुआ है।

## ३. ठाणांग

इसमें दस अध्ययन हैं और ७८३ सूत्र हैं जिनमें अंगुत्तरनिकाय के समान एक से लेकर दस संख्या तक संख्याक्रम के अनुसार जैन सिद्धान्त पर आधारित वस्तुसंस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्पराओं को भी स्थान मिला है। जैसे नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में महावीर के ९ गणों का उल्लेख है। सात निहवों का भी यहाँ उल्लेख मिलता है — जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। इनमें प्रथम दो के अतिरिक्त सभी निहवों की उत्पत्ति महावीर के बाद ही हुई। प्रव्रज्या, स्थविर, लेखन-पद्धति आदि से सम्बद्ध सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसका समय लगभग चतुर्थ-पंचम ई० शती निश्चित की जा सकती है।

## ४. समवायांग

इसमें कुल २७५ सूत्र हैं जिनमें ठाणांग के समान संख्याक्रम से निश्चित वस्तुओं का निरूपण किया गया है। यद्यपि यहाँ कोई क्रम तो नहीं पर उसी

का आधार लेकर संख्याक्रम सहस्र और कोटाकोटि तक पहुँची है। ठाणांग के समान यहाँ भी महावीर के बाद की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। उदाहरणतः १००वें सूत्र में गणधर इन्द्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण से सम्बद्ध घटना। ठाणांग और समवायांग की एक विशिष्ट शैली है, जिसके कारण इनके प्रकरणों में एकसूत्रता के स्थान पर विषयवैविध्य अधिक दिखाई देता है। इसमें भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री भरी हुई है। इनकी शैली अंगुत्तरनिकाय और पुग्लपण्णत्ति की शैली से मिलती-जुलती है।

#### ५. विद्याहपण्णत्ति

ग्रन्थ की विशालता और उपयोगिता के कारण इसे 'भगवतीसूत्र' भी कह जाता है। इसमें गणधर गौतम के ६००० प्रश्न और महावीर के उत्तर निबद्ध हैं। अधिकांश प्रश्न स्वर्ग, नरक, चन्द्र, सूर्य आदि से सम्बद्ध हैं। इसमें ४१ शतक हैं जिनमें ८३७ सूत्र हैं। प्रथम शतक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आगे के शतक इसी की व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ मक्खलि गोसाल का विस्तृत चरित भी मिलता है। बुद्ध को छोड़कर पार्श्वनाथ और महावीर के समकालीन आचार्य और परिव्राजक, पार्श्वनाथ और महावीर का परम्पराभेद, स्वप्नप्रकार, जवणिज्ज (यापनीय) संघ, वैशाली में हुए दो महायुद्ध, वनस्पतिशास्त्र, जीव प्रकार आदि के विषय में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। इसमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित नन्दिसूत्र का भी उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि इस महाग्रन्थ में महावीर के बाद की लगभग एक हजार वर्ष की परम्पराओं का संकलन है। इसकी विषय-सूची भी बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इसमें गद्यसूत्र ५२९३ और पद्यसूत्र १६० हैं।

#### ६. नायाधम्मकहाओ

इसमें भगवान् महावीर द्वारा उपादष्ट लोकप्रचालित धर्मकथाओं का निबन्ध है, जिसमें संयम, तप, त्याग आदि का महत्त्व बताया गया है। इस ग्रन्थ में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नीति कथाओं से सम्बद्ध उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में धर्मकथायें संकलित हैं। शैली रोचक और आकर्षक है। इसमें मेघकुमार, धन्ना और विजय चोर, सागरदत्त और जिनदत्त कच्छप और शृंगाल, शैलक मुनि और शुक परिव्राजक, तुम्ब, रोहणी, मल्लि, भाकंदी, दुर्दर, अमात्य तेमलि, द्रौपदी, पुण्डरीक, कुण्डरीक, गजसुकुमाल, नन्दमणियार आदि की कथायें संकलित हैं। ये कथायें घटना प्रधान तथा नाटकीय तत्वों से आपूर हैं। सांस्कृतिक महत्त्व की सामग्री भी इसमें सन्निहित है।

### ७. उवासगदसाओ

इसमें दस अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः आनन्द, कामदेव, चुलिनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सदालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालतियापिता इन दस उपासकों का चरित्र-चित्रण है। इन श्रावकों को पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह अणुव्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करते हुए धर्मार्थ साधना में तत्पर बताया है। इसे आचारांग का परिपूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। गृहस्थाचार के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

### ८. अंतगडदसाओ

इस अंग में ऐसे स्त्री-पुरुषों का वर्णन है जिन्होंने संसार का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया है। इसमें आठ वर्ग हैं। हर वर्ग किसी न किसी मुमुक्षु से सम्बद्ध है। यहाँ गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, गजसुकुमाल, कृष्ण, पद्मावती, अर्जुनमाली, अतिमुक्त आदि महानुभावों का चरित्र-चित्रण उपलब्ध है। पौराणिक और चरितकाव्यों के लिए ये कथानक बीजभूत माने जा सकते हैं। इसका समय लगभग २-३री शती होना चाहिए।

### ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ

इस ग्रन्थ में ऐसे महापुरुषों का वर्णन है जो अपने तप और संयम से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए और उसके बाद वे मुक्तिगामी होते हैं। यह अंग तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वर्ग में २०, द्वितीय वर्ग में १३ और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। जालि, महाजालि, अभयकुमार आदि दस राजकुमारों का प्रथम वर्ग में, दीर्घसेन, महासेन, सिंहसेन, आदि तेरह राजकुमारों का द्वितीय वर्ग में, और धन्यकुमार, रामपुत्र, वेहल्ल आदि दस राजकुमारों का भोगमय और तपोमय जीवन का चित्रण तृतीय वर्ग में मिलता है। यहां अनुत्तरोपपातिकों की अवस्था का वर्णन किया गया है।

### १०. पणहवागरणाइं

इसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से परसमय (जैनेतरमत) का खण्डन कर स्वसमय की स्थापना की है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में हिंसादिक पाप रूप आश्रवों का और द्वितीय भाग में अहिंसादि पांच व्रत रूप संवर द्वारों का वर्णन किया गया है। इसी सन्दर्भ में मन्त्र, तन्त्र और चामत्कारिक विद्याओं का भी वर्णन किया गया है। सम्भवतः यह ग्रन्थ उत्तरकालीन है।

## ११. विवागसुयं

इस ग्रन्थ में शुभाशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए बीस कथाओं का आलेखन किया गया है। इन कथाओं में मृगापुत्र नन्दिषेण आदि की जीवन गाथायें अशुभ कर्म के फल को और सुबाहु, भद्रनन्दी आदि की जीव गाथायें शुभकर्म के फल को व्यक्त करती हैं। वर्णनक्रम से पता चलता है कि यह ग्रन्थ भी उत्तरकालीन होना चाहिए।<sup>१</sup>

## १२. दिट्टिवाय

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह ग्रन्थ लुप्त हो गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि आगमिक ग्रन्थ इसी के भेद-प्रभेदों पर आधारित हैं। समवायांग में इसके पांच विभाग किये गये हैं — परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इसमें विभिन्न दर्शनों की चर्चा रही होगी। पूर्वगत विभाग के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। अनुयोग भी दो प्रकार के हैं — प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। चूलिकायें कहीं बत्तीस और कहीं पांच बतायी गई हैं। उनका सम्बन्ध मन्त्र-तन्त्रादि से रहा होगा। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ रहा होगा।

## उपांग साहित्य

वैदिक अंगोपांगों के समान जैनागम के भी उपर्युक्त बारह अंगों के बारह उपांग माने जाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उपांगों के क्रम का अंगों के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। लगभग १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में उपांगों का वर्णन भी नहीं आता। इसलिए इन्हें उत्तरकालीन माना जाना चाहिए। ये उपांग इस प्रकार हैं —

### १. उववाइय

इसमें ४३ सूत्र हैं और उनमें साधकों का पुनर्जन्म कहाँ-कहाँ होता है, इसका वर्णन किया गया है। इसमें ७२ कलाओं और विभिन्न परिव्राजकों का वर्णन मिलता है।

### २. रायपसेणिय

इस ग्रन्थ में २१७ सूत्र हैं। प्रथम भाग में सूर्याभदेव का वर्णन है और

१. विशेष देखिये, लेखक का ग्रन्थ भगवान् महावीर और उनका चिन्तन, पाथर्डी, १९७५.

द्वितीय भाग में केशी और प्रदेशी के बीच जीव-अजीव विषयक संवाद का वर्णन है। इसमें दर्शन, स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की विशिष्ट सामग्री सन्निहित है।

### ३. जीवाभिगम

इसमें ९ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं, जिनमें जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। टीकाकार मलयगिरि ने इसे ठाणांग का उपांग माना है। इसमें अस्त्र, वस्त्र, धातु, भवन आदि के प्रकार दिये गये हैं।

### ४. पणवणा

इस ग्रन्थ में ३४९ सूत्र हैं और उनमें जीव से सम्बन्ध रखने वाले ३६ पदों का प्रतिपादन है — प्रज्ञापना, स्थान, योनि, भाषा, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या आदि। इसके कर्ता आर्य श्यामाचार्य हैं, जो महावीर परिनिर्वाण के ३७६ वर्ष बाद अवस्थित थे। इसे समवायांगसूत्र का उपांग माना गया है। वृक्ष, तृण, औषधियाँ, पंचेन्द्रियजीव, मनुष्य, साढ़े पच्चीस आर्य देशों आदि का वर्णन मिलता है।

### ५. सुरियपण्णत्ति

इस ग्रन्थ में २० पाहुड और १०८ सूत्र हैं, जिनमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का वर्णन मिलता है। इस पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति और मलयगिरि ने टीका लिखी है।

### ६. जम्बूदीवपण्णत्ति

यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है — पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में चार और उत्तरार्द्ध में तीन वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं तथा कुल १७६ सूत्र हैं जिनमें जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, नदी, पर्वत, कुलकर आदि का वर्णन है। यह नायाधम्मकहाओ का उपांग माना जाता है।

### ७. चन्द्रपण्णत्ति

इसमें बीस प्राभृत हैं और उनमें चन्द्र की गति आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। इसे उवासगदसाओ का उपांग माना जाता है।

### ८. निरयावलिया

निरयावलिया अथवा कप्पिया में दस अध्ययन हैं, जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ठ, सुकण्ठ महाकण्ठ, वीरकण्ठ, रामकण्ठ, पिउसेणकण्ठ और

महासेणकण्ह का वर्णन है।

## १. कप्पावडिसिया

इसमें भी दस अध्ययन हैं, जिनमें पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेण, पउमगुम्म, नल्लिण्णिगुम्म, आणंद व नंदण का वर्णन है।

## १०. पुप्फिया

इसमें भी दस अध्ययन हैं, जिनमें चंद, सूर, सुक्क, बहुपुत्तिया, पुन्नभद्द, गणिभद्द, दत्त, सिव, बल और अणाडिय का वर्णन है।

## ११. पुप्फचूला

इसमें भी दस अध्ययन हैं — सिरि, हिरि, धिति, किति, बुद्धि, लच्छी इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी।

## १२. वणिहदसाओ

इसमें बारह अध्ययन हैं — निसद्ध, माअनि, वह, वण्ह, पगता, जुत्ती दसरह, दडरह, महाघणू, सत्तघणू, दसघणू और सयधणू।

ये उपांग सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। आठवें उपांग से लेकर बारहवें उपांग तक को समय रूप में 'निरयावलिओ' भी कहा गया है।

## मूलसूत्र

डॉ० शुब्रिंग के अनुसार इनमें साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश गर्भित है इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। उपांगों के समान मूलसूत्रों का भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। इनकी मूलसंख्या में भी मतभेद है। कोई इनकी संख्या तीन मानता है — उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक और कुछ विद्वानों ने पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को सम्मिलित कर उनकी संख्या चार कर दी है।

## १. उत्तरज्झायण

भाषा और विषय की दृष्टि से यह सूत्र प्राचीन माना जाता है। इसकी तुलना पालि त्रिपिटक के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि ग्रन्थों से की गई है। इसका अध्ययन आचारांगादि के अध्ययन के बाद किया जाता था। यह भी सम्भव है कि इसकी रचना उत्तरकाल में हुई हो। उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं जिनमें नैतिक, सैद्धान्तिक और कथात्मक विषयों का समावेश किया गया है। इनमें कुछ जिनभाषित हैं।

कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवाद रूप में कहे गये हैं।

## २. आवस्सय

इसमें छः नित्य क्रियाओं का छः अध्यायों में वर्णन है — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

## ३. दसवेयालिय

इसके रचयिता आर्यसम्भव हैं। उन्होंने इसकी रचना अपने पुत्र के लिए की थी। विकाल अर्थात् सन्ध्या में पड़े जाने के कारण इसे दसवेयालिय कहा जाता है। यह दस अध्यायों में विभक्त है जिनमें मुनि आचार का वर्णन किया गया है।

## ४. पिण्डनिर्युक्ति

इसमें आठ अधिकार और ९७१ गाथायें हैं, जिनमें उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि दोषों का प्ररूपण किया गया है। इसके रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं।

## ५. ओघनिर्युक्ति

इसमें ८११ गाथायें हैं, जिनमें प्रतिलेखन, पिण्ड, उपाधि-निरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना, आलोचना और विशुद्धि का निरूपण है।

## छेदसूत्र

श्रमणधर्म के आचार-विचार को समझने की दृष्टि से छेदसूत्रों का विशिष्ट महत्त्व है इनमें उत्सर्ग (सामान्य विधान), अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त विधानों का वर्णन किया गया है। छेदसूत्रों की संख्या ९ है — दसासुयक्खन्ध, बृहत्कल्प, ववहार, निसीह, महानिसीह और पंचकप्प अथवा जीतकप्प।

## १. दसासुयक्खन्ध

दसासुयक्खन्ध अथवा आचारदसा में दस अध्ययन हैं। उनमें क्रमशः असमाधि के कारण शबलदोष (हस्तकर्म मैथुन आदि), आशातना (अवज्ञा), गणिसम्पदा, चित्तसमाधि, उपासक-प्रतिमा, भिक्षु-प्रतिमा, पर्यूषणाकल्प, मोहनीयस्थान और आयातिस्थान (निदान) का वर्णन मिलता है। महावीर के जीवनचरित की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता निर्युक्तिकार से भिन्न आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं।



## २. बृहत्कल्प

इसमें छः उद्देश हैं, जिनमें भिक्षु-भिक्षुणियों के निवास, विहार, आहार, आसन आदि से सम्बद्ध विविध नियमों का विधान किया गया है। इसके भी रचयिता भद्रबाहु माने गये हैं। यह ग्रन्थ गद्य में लिखा गया है।

## ३. व्यवहार

इसमें दस उद्देश और ३०० सूत्र हैं। उनमें आहार, विहार, वैयावृत्ति, साधु-साध्वी का पारस्परिक व्यवहार, गृहगमन, दीक्षाविधान आदि विषयों पर सांगोपांग चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के भी कर्ता भद्रबाहु माने गये हैं।

## ४. निसीह

इसमें बीस उद्देश और लगभग १५०० सूत्र हैं। इनमें गुरुमासिक, लघुमासिक और गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बद्ध क्रियाओं का वर्णन है।

## ५. महानिसीह

इसमें छः अध्ययन है और दो चूलिकाएं हैं जिनमें लगभग ४५५४ श्लोक हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ता। विनष्ट महानिसीह को हरिभद्रसूरि ने संशोधित किया और सिद्धसेन तथा जिनदासगणि ने उसे मान्य किया। कर्मविपाक, तान्त्रिक प्रयोग, संघस्वरूप, आदि पर विस्तार से वहाँ चर्चा की गई है।

## ६. जीतकल्प

इसकी रचना जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने १०३ गाथाओं में की है। इसमें आत्मा की विशुद्धि के लिए जीत अर्थात् प्रायश्चित्त का विधान है। इसमें आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक भेदों का वर्णन किया गया है।

## चूलिका सूत्र

चूलिकायें ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में मानी गई हैं। इनमें ऐसे विषयों का समावेश किया गया है जिन्हें आचार्य अन्य किसी ग्रन्थ-प्रकार में सम्मिलित नहीं कर सके। नन्दी और अनुयोगद्वार की गणना चूलिकासूत्रों में की जाती है। ये सूत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। नन्दीसूत्र गद्य-पद्य में लिखा गया है। इसमें ९० गाथायें और ५९ गद्यसूत्र हैं। इसका कुल परिमाण लगभग ७०० श्लोक होगा। इसके रचयिता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक माने जाते हैं, जो देवर्धिगणि क्षमाश्रमण

से भिन्न हैं। इसमें पंचज्ञानों का वर्णन विस्तार से किया गया है। स्थविरावली और श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेद की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। अनुयोगद्वारा में निक्षेप पद्धति से जैनधर्म के मूलभूत विषयों का व्याख्यान किया गया है। इसके रचयिता आर्यरक्षित माने जाते हैं। इसमें नय, निक्षेप, प्रमाण, अनुगम आदि का विस्तृत वर्णन है। ग्रन्थमान लगभग २००० श्लोक प्रमाण है, इसमें अधिकांशतः गद्य भाग है।

### प्रकीर्णक

इस विभाग में ऐसे ग्रन्थ सम्मिलित किये गये हैं जिनकी रचना तीर्थङ्करों द्वारा प्रवेदित उपदेश के आधार पर आचार्यों ने की है। ऐसे आगमिक ग्रन्थों की संख्या लगभग १४००० मानी गई है, परन्तु बलभी वाचना के समय निम्नलिखित दस ग्रन्थों का ही समावेश किया गया है — चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपइण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारक, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदथह, और मरणसमाहि। 'चउसरण' में ६३ गाथायें हैं, जिनमें अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवलिकथित धर्म को शरण माना गया है। इसे वीरभद्रकृत माना जाता है। 'आउरपच्चक्खाण' में वीरभद्र ने ७० गाथाओं में बालमरण और पण्डितमरण का व्याख्यान किया है। महापच्चक्खाण में १४२ गाथायें हैं, जिनमें व्रतों और आराधनाओं पर प्रकाश डाला गया है। 'भत्तपइण्णा' में १७२ गाथायें हैं, जिनमें वीरभद्र ने भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण भेदों के स्वरूप का विवेचन किया है। 'तंदुलवेयालिय' में १३९ गाथाएं हैं और उनमें गर्भावस्था, स्त्री स्वभाव तथा संसार का चित्रण किया गया है। 'संथारक' में १२३ गाथायें हैं जिनमें मृत्युशय्या का वर्णन है। 'गच्छायार' में १३० गाथायें हैं जिनमें गच्छ में रहने वाले साधु-सध्वियों के आचार का वर्णन है। 'गणिविज्जा' में ८० गाथायें हैं जिनमें दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त आदि का वर्णन है। देविंदथह (३०७ गा.) में देवेन्द्र की स्तुति है। मरणसमाहि (६६३ गा.) में आराधना, आराधक, आलोचना, सल्लेखना क्षमायापन आदि पर विवेचन किया गया है।

इन प्रकीर्णकों के अतिरिक्त तित्थोगालिय, अजीवकप्प, सिद्धपाहुड, आराहण पहाआ, दीवसायरपण्णत्ति, जोइसकरंडव, अंगविज्जा, पिंडविसोहि, तिहिपइण्णग, सारावलि, पज्जंताराहणा, जीवविहत्ति, कवचपकरण और जोगिपाहुड ग्रन्थों को भी प्रकीर्णक श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

### आगमिक व्याख्या साहित्य

उपर्युक्त अर्धमागधी आगम साहित्य पर यथासमय निर्युक्ति भाष्य, चूर्ण,

टीका विवरण, वृत्ति, अवचूर्णी पंजिका एवं व्याख्या रूप में विपुल साहित्य की रचना हुई है। इनमें आचार्यों ने आगमगत दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस विद्या में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्ण और टीका साहित्य विशेष उल्लेखनीय है।

## निर्युक्ति साहित्य

जिस प्रकार यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निरुक्त की रचना की उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने आगमिक शब्दों की व्याख्या के लिए निर्युक्तियों का निर्माण किया। ये निर्युक्तियाँ निम्नलिखित दस ग्रन्थों पर लिखी गई हैं — आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित। इनमें अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं। इन निर्युक्तियों की रचना प्राकृत पद्यों में हुई है। बीच-बीच में कथाओं और दृष्टान्तों को भी नियोजित किया गया है। सभी निर्युक्तियों की रचना निक्षेप पद्धति में हुई है। इस पद्धति में शब्दों के अप्रासंगिक अर्थों को छोड़कर प्रासंगिक अर्थों का निश्चय किया गया है।

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में छः अध्ययन हैं — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इसमें सप्तनिहव तथा भगवान् ऋषभदेव और महावीर के चरित्र का आलेखन हुआ है। इस निर्युक्ति पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर आदि आचार्यों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे। इसमें लगभग १६५० गाथायें हैं। ‘दशवैकालिकनिर्युक्ति’ (३४१ गा.) में देश, काल आदि शब्दों का निक्षेप पद्धति से विचार हुआ है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति (६०७ गा.) में विविध धार्मिक और लौकिक कथाओं द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। आचारांगनिर्युक्ति (३४७ गा.) में आचार, अंग, ब्रह्म, चरण आदि शब्दों का अर्थ निर्धारण किया गया है। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (२०५ गा.) में मतमतान्तरों का वर्णन है। दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में समाधि, स्थान, दसश्रुत आदि का वर्णन है। यह निर्युक्ति बृहत्कल्पनिर्युक्ति (५५९ गा.) और व्यवहारनिर्युक्ति के समान अल्पमिश्रित अवस्था में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति भी मिलती हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन निर्युक्तियों का विशेष महत्त्व है।

## भाष्य साहित्य

निर्युक्तियों में प्रच्छन्न गूढ़ विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गये।

जिन आगम ग्रन्थों पर भाष्य मिलते हैं वे हैं — आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति। ये सभी भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य मिलते हैं — मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यकभाष्य। “विशेषावश्यकभाष्य” आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन मात्र सामायिक पर लिखा गया है फिर भी उसमें ३६०३ गाथायें हैं। इसमें आचार्य जिनभद्र (लगभग वि०सं० ६५०-६६०) ने जैन ज्ञान और तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से सामग्री को संकलित किया है। योग, मंगल, पंचज्ञान, सामायिक, निक्षेप, अनुयोग, गणधरवाद, आत्मा और कर्म, अष्टनिहव, प्रायश्चित्तविधान आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। जिनभद्र का ही दूसरा भाष्य ‘जीतकल्प’ (१०३ गा.) पर है। जिसमें प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इसी पर एक स्वोपज्ञभाष्य (२६०६ गाथायें) भी मिलता है जिसमें बृहत्कल्प, लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्प, महाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि की गाथायें शब्दशः उद्धृत हैं।

बृहत्कल्प लघुभाष्य के रचयिता संघदासगणि क्षमाश्रमण जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं जिन्होंने इसे छः उद्देशों और ६४९० गाथाओं में पूरा किया। इसमें जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक साधु-साध्वियों के आहार-विहार, निवास आदि का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक सामग्री से यह ग्रन्थ भरा हुआ है। इन्हीं आचार्यों का पंचकल्पमहाभाष्य (२६६५ गा.) भी मिलता है। बृहत्कल्प लघुभाष्य के समान बृहत्कल्प बृहद्भाष्य भी लिखा गया है पर दुर्भाग्य से अभी तक वह अपूर्ण ही उपलब्ध हुआ है। इस सन्दर्भ में व्यवहारभाष्य (दस उद्देश), ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य (३२२ गा.), ओघनिर्युक्ति बृहद्भाष्य (२५९७ गा.) और पिण्डनिर्युक्ति भाष्य (४६ गा.) भी उल्लेखनीय हैं।

### चूर्णि साहित्य

आगम साहित्य पर निर्युक्तियों और भाष्यों के अतिरिक्त चूर्णियों की भी रचना हुई है। पर वे पद्य में न होकर गद्य में हैं और शुद्ध प्राकृत भाषा में न होकर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित हैं। सामान्यतः यहाँ संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का प्रयोग अधिक हुआ है। चूर्णिकारों में जिनदासगणि महत्तर और सिद्धसेन सूरि अग्रगण्य हैं। जिनदासगणि महत्तर (लगभग वि०सं० ६५०-७५०) ने नन्दि, अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, बृहत्कल्प, व्याख्याप्रज्ञप्ति, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध पर चूर्णियाँ लिखी हैं तथा जीतकल्प चूर्ण के कर्ता सिद्धसेन सूरि (वि०सं० १२२७) हैं। इनके अतिरिक्त

जीवाभिगम, महानिशीथ, व्यवहार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखी गई हैं। इन चूर्णियों में सांस्कृतिक तथा कथात्मक सामग्री भरी हुई है।

## टीका साहित्य

आगम को और भी स्पष्ट करने के लिए टीकायें लिखी गई हैं। इनकी भाषा प्रधानतः संस्कृत है पर कथा भाग अधिकांशतः प्राकृत में मिलता है। आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्रसूरि (लगभग ७००-७७० ई०) की, आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलाकाचार्य (वि०सं० लगभग ९००-१०००) की, उत्तराध्ययन पर शिष्यहिता टीका शान्तिासूरि (११वीं शती) की तथा सुखबोधा टीका देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि की विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत टीकाओं, विवरणों और कृतियों की तो एक लम्बी संख्या है जिसका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

## कर्म साहित्य

पूर्वोक्त आगम साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में लिखा गया है। इसे परम्परानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्वीकार करता है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय किन्हीं कारणोंवश उसे 'लुप्त' हुआ मानता है। उसके अनुसार लुप्त आगम का आंशिक ज्ञान मुनि परम्परा में सुरक्षित रहा। उसी के आधार पर आचार्य धरसेन के सान्निध्य में षट्खण्डागम की रचना हुई।

षट्खण्डागम 'दृष्टिवाद' नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पाँचवें अधिकार के चतुर्थ पाहुड (प्राभृत) कर्म प्रकृति पर आधारित है। इसलिए इसे कर्मप्राभृत भी कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के रचयिता पुष्पदन्त हैं और शेष भाग को आचार्य भूतबलि ने रचा है। इनका समय महावीर निर्वाण के ६००-७०० वर्ष बाद माना जाता है।<sup>१</sup> सत्प्ररूपणा में १७७ सूत्र हैं। शेष ग्रन्थ ६००० सूत्रों में रचित कर्म प्राभृत के छः खण्ड हैं— जीवद्विगण (२३७५ सूत्र), खुद्बन्ध (१५८२ सूत्र), बन्धसामित्तविचय (३२४ सूत्र), वेदना (१४४९ सूत्र), वग्गणा (९८२ सूत्र और महाबन्ध (सात अधिकार)। इनमें कर्म और उनकी विविध प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस पर निम्नलिखित टीकायें रची गई हैं। इन टीकाओं में 'धवला' टीका को छोड़कर शेष सभी, अनुपलब्ध हैं। इनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है—

१. षट्खण्डागम पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ. २१-३१.

- i) प्रथम तीन खण्डों पर कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)
- ii) प्रथम पाँच खण्डों पर शास्त्रकुण्डकृत पद्धतिनामक प्राकृत-संस्कृत-कन्नड मिश्रित टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)।
- iii) छठे खण्ड पर तुम्बूलाचार्यकृत प्राकृत पञ्जिका (६०००० श्लोक प्रमाण)
- iv) वीरसेन (८१६ ई०) की प्राकृत-संस्कृत मिश्रित टीका (७२००० श्लोक प्रमाण)

दृष्टिवाद के ही ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोस नामक तृतीय प्राभृत से 'कषायप्राभृत' (कसाय पाहुड) की उत्पत्ति हुई। इसे 'पेज्जदोसपाहुड' भी कहा गया है। आचार्य गुणधर ने इसकी रचना भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद की। इसमें १६०० पद एवं १८० किंवा २३३ गाथायें और १५ अर्थाधिकार हैं। इस पर यतिवृषभ ने विक्रम की छठी शती में छः हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र रची। उस पर वीरसेन ने सन् ८७४ में बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी। इस अधूरी टीका को उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर ग्रन्थ समाप्त किया। इनके अतिरिक्त उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणवृत्ति, शामकुण्डकृत पद्धतिटीका, तुम्बूलाचार्यकृत चूड़ामणिव्याख्या तथा वप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति नामक टीकाओं का उल्लेख मिलता है पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। इन सभी टीका ग्रन्थों में कर्म की विविध व्याख्या की गई है।

इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने विक्रम की ११वीं शती में 'गोमट्टसार' की रचना की। वे चामुण्डराय के गुरु थे जिन्हें गोमट्टराय भी कहा जाता था। गोमट्टसार के दो भाग हैं— जीवकाण्ड (७३३ गा०) और कर्मकाण्ड (९७२ गा०)। जीवकाण्ड में जीव, स्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी और वेदना इन पाँच विषयों का विवेचन है। कर्मकाण्ड में कर्म के भेद-प्रभेदों की व्याख्या की गई है। इसी लेखक की 'लब्धिसार' (२६१ गा०) नामक एक और रचना मिलती है। लगभग आठवीं शती में लिखी किसी अज्ञात विद्वान् की 'पञ्चसंग्रह' (१३०९ गा०) नामक कृति भी उपलब्ध हुई है। इसमें कर्मस्तव आदि पाँच प्रकरण हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, बट्टकेर और शिवार्य के साहित्य को इसमें और जोड़ दिया जाय तो यह समूचा साहित्य दिगम्बर सम्प्रदाय का आगम साहित्य कहा जा सकता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवशर्मसूरि (वि. की पाँचवीं शती) की कर्मप्रकृति (४७५ गा०), उस पर किसी अज्ञात विद्वान् की सात हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि, वीरशेखरविजय की ठिड्बन्ध (८७६ गा०) तथा खवगसेढी-और चन्दर्सि महत्तर का पञ्चसंग्रह (१००० गा०) विशिष्ट कर्मग्रन्थ हैं। गर्गर्षि (वि. की १०वीं शती) का कम्मविवाग, अज्ञात कवि का कर्मस्तव और बन्धस्वामित्व, जिनवल्लभगणि की षडशीति, शिवशर्मसूरि का शतक और अज्ञात कवि की सप्तततिका ये प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। जिनवल्लभगणि (वि. की १२वीं शती) का सार्धशतक (१५५ गा०) भी स्मरणीय है। देवेन्द्रसूरि (१३वीं शती) के कर्मविपाक (६० गा०), कर्मस्तव (३४ गा०), बन्धस्वामित्व (२४ गा०), षडशीति (४६ गा०) और शतक (१०० गा०) इन पाँच ग्रन्थों को 'नव्यकर्मग्रन्थ' कहा जाता है। जिनभद्रगणि की विशेषणवति, विजयविमलगणि (वि.सं. १६२३) का भावप्रकरण (३०गा०), हर्षकुलगणि (१६वीं शती) का बन्धहेतूदयत्रिभंगी (६५ गा०) और विजयविमलगणि (१७वीं शती) का बन्धोदयसत्ताप्रकरण (२४ गा०) ग्रन्थ भी यहाँ उल्लेखनीय है।

## सिद्धान्त साहित्य

कर्मसाहित्य के अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थ हैं जिन्हें हम आगम के अन्तर्गत रख सकते हैं। इन ग्रन्थों के आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती) के पवयणसार (१७५ गा०), समयसार (४१५ गा०), नियमसार (१८७ गा०), पंचत्थिकायसंगहसुत (१७३ गा०), दंसणपाहुड (३६ गा०), चारित्तपाहुड (४४ गा०), सुत्तपाहुड (२७ गा०), बोधपाहुड (६२ गा०), भावपाहुड (१६६ गा०), मोक्खपाहुड (१०६ गा०), लिंगपाहुड (२२ गा०) और सीलपाहुड (४० गा०) प्रधान ग्रन्थ हैं। इनमें निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा की विशुद्धावस्था को प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इनकी भाषा शौरसेनी है।

अनेकान्त का सम्यक् विवेचन करने वालों में आचार्य सिद्धसेन (५-६ वीं शती) शीर्षस्थ हैं जिन्होंने 'सम्मइसुत्' (१६७ गा०) रचकर प्राकृत में दार्शनिक ग्रन्थ प्रणयन का मार्ग प्रशस्त किया। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है— नय, उपयोग और अनेकान्तवाद। अभयदेव ने इस पर २५०० श्लोक प्रमाण तत्त्वबोधाधिनी नामक टीका लिखी। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसी प्रकार आचार्य देवसेन का लघुनयचन्द्र (६७ गा०) और माइलधवल का वृहन्नयचक्र (४२३ गा०) भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

किसी अज्ञात कवि का जीवसमास (२८६ गा०), शान्तिसूरि (११वीं शती)

का जीवविचार (५१ गा.), अभयदेवसूरि का पण्णवणातइयपयसंगहणी (१३३ गा.), अज्ञात कवि की जीवाजीवाभिगमसंगहणी (२२३ गा.), जिनभद्रगणिकामाश्रमण का समयखित्तसमास (६३७ गा.), राजशेखरसूरि की क्षेत्रविचारणा (३६७ गा.), मिचन्द्रसूरि का पवयण सारोद्धार (१५९९ गा.), सोमतिलकसूरि (वि.सं. १३७३) का सत्तरिसय ठाणपयरण (३५९ गा.), देवसूरि का जीवाणुसासण (४२३ गा.) आदि रचनाओं में सप्त तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन मिलता है।

धर्मोपदेशात्मक साहित्य भी प्राकृत में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जीवनसाधना की दृष्टि से यह साहित्य रचा गया है। धर्मदासगणी (लगभग ८वीं शती) की एएसमाला (५४२ गा.), हरिभद्रसूरि का उवएसपद (१०३९ गा.) व संबोहप्रकरण (१५१० गा.), हेमचन्द्रसूरि की उवएसमाला (५०५ गा.) व भवभावणा (५३१ गा.), महेन्द्रप्रभसूरि (सं. १४३६) की उवएसचिंतामणि (४१५ गा.), जिनरत्नसूरि (सं. १२३१) का विवेकविलास (१३२३ गा.), शुभवर्धनगणी (सं. १५५२) की वद्धमाणदेसना (३१६३ गा.), जयवल्लभ का वज्जालगं (१३३० गा.) आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। इन कृतियों में जैनधर्म, सिद्धान्त और तत्त्वों का उपदेश दिया गया है और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से व्रतादि का महत्त्व बताया गया है। ये सभी कृतियाँ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रची गई हैं। उत्तर पश्चिम के जैन साहित्यकारों ने अर्धमागधी के बाद इसी भाषा को माध्यम बनाया। 'यश्रुति' इसकी विशेषता है।

आचार्यों ने योग और बारह भावनाओं सम्बन्धी साहित्य भी प्राकृति में रचा है। इसका अधिकांश साहित्य यद्यपि संस्कृत में मिलता है पर प्राकृत भी इससे अछूता नहीं रहा। हरिभद्रसूरि का ज्ञाणज्झयण (१०६ गा.) कुमार कार्तिकेय का बारसानुवेक्खा (४८९ गा.), देवचन्द्र का गुणणट्ठाणसय (१०७ गा.), जिनरत्नसूरि का खवगसेढी (२७१ गा.) तथा वीरसेखरविजय का मूलपकइठिइबन्ध (३७६ गा.) उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में यम, नियम आदि के माध्यम से कर्मार्ग-प्राप्ति को निर्दिष्ट किया गया है। प्राचीन भारतीय योगसाधना को किस प्रकार विशुद्ध आध्यात्मिक साधना का माध्यम बनाया जा सकता है इसका निदर्शन आचार्यों ने इन कृतियों में बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

## आचार साहित्य

आचार साहित्य में सागार और अनगार के व्रतों और नियमों का विधान रचा है। वट्टकेर (लगभग ३री शती) का मूलाचार (१५५२ गा.), शिवार्य (लगभग तृतीय शती) का भगवइ आराहणा (२१६६ गा.) और वसुनन्दी (१३वीं



शती) का उवासयाज्जयणं (५४६ गा०) शौरसेनी प्राकृत में रचे कुछ विशिष्ट ग्रन्थ हैं जिनमें मुनियों और श्रावकों के आचार-विचार का विस्तृत वर्णन है।

इसी तरह हरिभद्रसूरि के पंचवत्थुग (१७१४ गा०), पंचासग (८५० गा०), सावयपण्णत्ति (४०५ गा०) और सावयधम्मविहि (१२० गा०), प्रद्युम्नसूरि की मूलसिद्धि (२५२ गा०), वीरभद्र (सं. १०७८) की आराहणापडाया (९९० गा०), देवेन्द्रसूरि की सङ्घदिणकिच्च (३४४ गा०) आदि जैन महाराष्ट्री में रचे गये प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें मुनि और श्रावकों की दिनचर्या, नियम, उपनियम, दर्शन, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था बतायी गई है। इन ग्रन्थों पर अनेक टीकायें भी मिलती हैं।

### विधिविधान और भक्तिमूलक साहित्य

प्राकृत में ऐसा साहित्य भी उपलब्ध होता है जिसमें आचार्यों ने भक्ति, पूजा, प्रतिष्ठा, यज्ञ, मन्त्र, तन्त्र, पर्व, तीर्थ आदि का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्द की सिद्धभक्ति (१२ गा०) सुदभक्ति, चरित्तभक्ति (१० गा०), अणगारभक्ति (२३ गा०), आयरियभक्ति (१० गा०), पंचगुरुभक्ति (७ गा०), तित्थयरभक्ति (८ गा०) और निब्बाणभक्ति (२७ गा०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यशोदेवसूरि क पच्चक्खाणसरूव (३२९ गा०), श्रीचन्द्रसूरि की अणुट्टाणविहि, जिनवल्लभगणि की षडिक्कण समायारी (४० गा०), देवभद्र की पमसहविहिपयरण (१८८ गा०) और जिनप्रभसूरि (वि.सं. १३६३) की विहिमग्गप्पवा (३५७५ गा०) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। धनपाल का ऋषभपंचासिका (५० गा०), भद्रबाहु क उवसगगरस्थोत्त (२० गा०), नन्दिषेण का अजियसंतिथुयि, देवेन्द्रसूरि क शाश्वतचैत्यास्तव, धर्मघोषसूरि (१४वीं शती) का भवस्तोत्र, किसी अज्ञात कवि का निर्वाण काण्ड (२१ गा०) तथा योगेन्द्रदेव (छठी शती) का निजात्माष्टक प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रों में दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ ही काव्यात्मक तत्त्व का विशेष ध्यान रखा गया है। रसात्मकता तो है ही।

### पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

जैनधर्म में ६३ शलाका महापुरुष हुए हैं जिनका जीवन चरित कवि ने अपनी लेखनी में उतारा है। इन काव्यों का स्रोत आगम साहित्य है। इन प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। इनमें कवियों ने धर्मोपदेश, कर्मफल अवान्तर कथायें, स्तुति, दर्शन, काव्य और संस्कृति को समाहित किया है। साधारणतः ये सभी काव्य शान्तरसानुवर्ती हैं। इनमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण घटित होते हैं। लोकतत्त्वों का भी समावेश यहाँ हुआ है।

पउमचरिय (८३५१ गा०) पौराणिक महाकाव्यों में प्राचीनतम कृति है जिसकी रचना विमलसूरि ने वि.सं. ५३० में की। कवि ने यहाँ रामचरित को यथार्थवादिता की भूमिका पर खड़े होकर रचा है। उसमें उन्होंने अतार्किक और अनर्गल बातों को स्थान नहीं दिया। सभी प्रकार के गुण, अलंकार, रस और छन्दों का भी उपयोग किया गया है। गुप्त-वाकाटक युग की संस्कृति भी इसमें पर्याप्त मिलती है। महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप यहाँ विद्यमान है। कहीं-कहीं अपभ्रंश का भी प्रभाव दिखाई देता है। इसी तरह भुवनतुंगसूरि का सीताचरित (४६५ गा०) भी उल्लेखनीय है।

सम्भवतः शीलाकाचार्य से भिन्न शीलाचार्य (वि.सं. ९२५) का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (१०८०० श्लोक प्रमाण), भद्रेश्वरसूरि (१२वीं शती), तथा आम्रकवि (१०वीं शती) का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (१०३ अधिकार), सोमप्रभाचार्य (सं. १९९९) का सुमईनाहचरिय (९६२१ श्लोक प्रमाण), लक्ष्मणगणि (सं. ११९९) का सुपासनाहचरिय (८००० गा०), नेमिचन्द्रसूरि (सं. १२१६) का सुपासनाहचरिय (१२०० गा०), श्रीचन्द्रसूरि (सं. ११९१) का मुनिसुब्बयसामिचरिय (१०९९४ गा०) तथा गुणचन्द्रसूरि (सं. ११३९) और नेमिचन्द्रसूरि (१२वीं शती) के महावीरचरिय (क्रमशः १२०२५ और २३८५ श्लोक प्रमाण) काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ प्रायः पद्यबद्ध हैं। कथावस्तु की सजीवता व चरित्र चित्रण की मार्मिकता यहाँ स्पष्टतः दिखाई देती है।

द्वादश चक्रवर्तियों तथा अन्य शलाका पुरुषों पर भी प्राकृत रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीचन्द्रसूरि (सं० १२१४) का सणतकुमारचरिय (८१२७ श्लोक प्रमाण), संघदासगणि और धर्मदासगणि (लगभग ५वीं शती) का वसुदेवहिण्डी (दो खण्ड) तथा गुणपालमुनि का जम्बूचरिय (१६ उद्देश) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इन काव्यों में जैनधर्म, इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले अनेक स्थल हैं।

भगवान् महावीर के बाद होने वाले अन्य आचार्यों और साधकों पर भी प्राकृत काव्य रचे गये हैं। तिलकसूरि (सं. १२६१) का प्रत्येकबुद्धचरित (६०५० श्लोक प्रमाण) उनमें प्रमुख है। इसके अतिरिक्त कुछ और पौराणिक काव्य मिलते हैं जो आचार्यों के चरित पर आधारित हैं जैसे हेमचन्द्र आदि की कालकाचार्य कथा।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कतिपय प्राकृत काव्य भी

रचे हैं। कहीं राजा, मन्त्री, अथवा श्रेष्ठी नायक हैं तो कहीं सन्त-महात्मा के जीवन को काव्य के लिए चुना गया है। उनकी दिव्यजय, संघ-यात्रायें तथा अन्य प्रासंगिक वर्णनों में अतिशयोक्तियाँ भी झलकती हैं। वहाँ काल्पनिक चित्रण भी उभरकर सामने आये हैं। ऐसे स्थलों पर इतिहासवेत्ता को पूरी सावधानी के साथ सामग्री का चयन करना अपेक्षित है। हेमचन्द्रसूरि का द्वाश्रयमहाकाव्य चौलुक्यवंशीय नरेश कुमारपाल के चरित का ऐसा ही चित्रण करता है। इस ग्रन्थ को पढ़कर भट्टिकाव्य, राजतरंगिणी तथा विक्रमांकदेवचरित जैसे ग्रन्थ स्मृति-पथ में आने लगते हैं।

इतिहास के निर्माण में प्रशस्तियों और अभिलेखों का भी महत्त्व होता है। श्रीचन्द्रसूरि के मुनिसुव्वयसामिचरिय (सं० ११९३) की १०० गाथाओंकी प्रशस्ति में संघ, शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज, सौराष्ट्र नरेश खेंगार आदि का वर्णन है। साहित्य जहाँ मौन हो जाता है वहाँ अभिलेख के रूप में बारली (अजमेर से ३२ मील दूर) में प्राप्त पाषाणस्तम्भ पर खुदी चार पंक्तियाँ हैं जिनमें वीरनिर्वाण संवत् ८४ उत्कीर्ण है। अशोक के लेख इसके बाद के हैं। उनमें भी प्राकृत के विविध रूप दिखाई देते हैं। सम्राट् खारवेल का हाथी गुम्फा शिलालेख, मथुरा और प्रभोसा से प्राप्त शिलालेख तथा घटियाला (जोधपुर) का शिलालेख (सं० ११८) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। मूर्ति लेख भी प्राकृत में मिलते हैं।

नाटकों का समावेश दृश्यकाव्य के रूप में होता है। इसमें संवाद, संगीत नृत्य और अभिनय संनिहित होता है। संस्कृत नाटकों में साधारणतः स्त्रियाँ विदूषक तथा निम्नवर्ग के किंकर, धूर्त, विट, भूत, पिशाच आदि अधिकांश पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। पूर्णतया प्राकृत में लिखा नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। हेमचन्द्रसूरि की सट्टककृति नयमंजरी अवश्य मिली है जो कर्पूरमञ्जरी के अनुकरण पर रची गई है। इनमें प्राकृत के नाटकों और सट्टकों के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं।

## कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में विपुल कथा साहित्य का निर्माण किया है। उनका मुख्य उद्देश्य कर्म, दर्शन, संयम, तप, चरित्र, दान आदि के महत्त्व को स्पष्ट करना रहा है। आगम साहित्य इन कथाओं का मूल स्रोत है। आधुनिक कथाओं के समान यहाँ वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य के रूप में कथा के अंग भी मिलते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध कथायें उत्तरकालीन विकास को इंगित करती हैं। यहाँ अपेक्षाकृत

सरसता और स्पष्टता अधिक दिखाई देती है।

समूचे प्राकृत साहित्य को अनेक प्रकार से विभाजित किया गया है। आगमों के अकथा, विकथा और कथा ये तीन भेद किये गये हैं।<sup>१</sup> कथा में लोककल्याण का हेतु गर्भित होता है इसलिए वह उपादेय है। शेष त्याज्य है। विषय की दृष्टि से कथा के चार भेद हैं— आक्षेपणी, अर्थ, काम और मिश्रकथा। धर्मकथा के भी चार भेद हैं— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी। जैनाचार्यों ने इसी प्रकार को अधिक अपनाया है।<sup>२</sup> पात्रों के आधार पर उन्हें दिव्य, मानुष और मिश्र कथाओं के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।<sup>३</sup> तीसरा वर्गीकरण भाषा की दृष्टि से हुआ है— संस्कृत, प्राकृत और मिश्र।<sup>४</sup> उद्योतनसूरि ने शैली की दृष्टि से कथा के पाँच भेद किये हैं— सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा।<sup>५</sup> प्राकृत साहित्य में मिश्रकथायें अधिक मिलती हैं। इन सभी कथा ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सरल नहीं। इसलिए विशिष्ट ग्रन्थों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

### कथासंग्रह

जैनाचार्यों ने कुछ ऐसी धर्मकथाओं का संग्रह किया है जो साहित्यकार के लिए सदैव उपजीव्य रहा है। धर्मदासगणि (१०वीं शती) के उपदेशामालाप्रकरण (५४२ गा.) में ३१० कथानकों का संग्रह है। जयसिंहसूरि (सं० ११०८) का कहारयणकोस (१२३०० श्लोक प्रमाण और ५० कथायें) देवेन्द्रगणि (सं० ११२९) का अक्खाणयमणिकोस (१२७ कथानक) आदि महत्त्वपूर्ण कथासंग्रह हैं जिनमें धर्म के विभिन्न आयामों पर कथानकों के माध्यम से दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ये दृष्टान्त सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी हैं।

उपर्युक्त कथानकों अथवा लोककथाओं का आश्रय लेकर कुछ स्वतन्त्र कथा साहित्य का भी निर्माण किया गया है जिनमें धर्माधना के विविध पक्षों की प्रस्तुति मिलती है। उदाहरणतः हरिभद्रसूरि (सं० ७५७-८२७) की 'समराइच्चकहा' ऐसा ग्रन्थ है जिनमें महाराष्ट्री प्राकृत गद्य में ९ प्रकरण हैं और उनमें समरादित्य

१. दशवैकालिक, गा. १८८; समराइच्च कहा, पृ. २.
२. धवलटीका, पुस्तक १, पृ. १०४.
३. लीलावईकहा, ३६.
४. समराइच्चकहा, पृ. २; दशवैकालिक गाथा, १८८.
५. कवलयमाला. प. ४.

और गिरिसेन के ९ भवों का सुन्दर वर्णन है। इसी कवि का धूर्ताख्यान (४८० गा०) भी अपने ढंग की एक निराली कृति है जिसमें हास्य और व्यंग्यपूर्ण मनोरञ्जक कथायें निबद्ध हैं। जयराम की प्राकृत धम्मपरिवक्खा भी इसी शैली में रची गई एक उत्तम कृति है।

यशोधर और श्रीपाल के कथानक की आचार्यों को बड़े रुचिकर प्रतीत हुए। सिरिवालकहा (१३४२ गा०) को नागपुरीय तपागच्छ के रत्नशेखरसूरि ने संकलित किया और हेमचन्द्र (सं० १४२८) ने उसे लिपिबद्ध किया। इसी के आधार पर प्रद्युम्नसूरि और विनयविजय (सं० १६८३) ने प्राकृत कथा-रचनायें कीं। सुकोशल, सुकुमाल और जिनदत्त के चरित भी लेखकों के लिए उपजीव्य कथानक रहे हैं।

कतिपय रचनायें नारी पात्र प्रधान हैं। पादलिप्तसूरि रचित तरंगवईकहा इस प्रकार की रचना है। यह अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं पर नेमिचन्द्रगणि ने इसी को तरंगलोला के नाम से संक्षिप्त रूपान्तरित कथाओं (१६४२ गा०) में प्रस्तुत किया है। उद्योतनसूरि (सं० ८३५) की कुवलयमाला (१३००० श्लोक प्रमाण) महाराष्ट्री प्राकृत में गद्य-पद्य मयी चम्पू शैली में लिखी गई इसी प्रकार की अनुपम कृति है जिसे हम महाकाव्य कह सकते हैं। गुणपालमुनि (सं० १२६४) का इसिदत्ताचरिय (१५५० ग्रन्थाग्रप्रमाण), धनेश्वरसूरि (सं० १०९५) का सुरसुंदरीचरिय (४००१ गा०), देवेन्द्रसूरि (सं० १३२३) का सुदंसणाचरिय (४००२ गा०) आदि रचनायें भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन कथा-ग्रन्थों में नारी में प्राप्त भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण मिलता है।

कुछ कथा ग्रन्थ ऐसे भी रचे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध किसी पण्डित, पूजा अथवा स्तोत्र से रहा है। ऐसे ग्रन्थों में श्रुतपञ्चमी के माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाला 'नाणपंचमीकहाओ' ग्रन्थ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें १० कथा और २८०४ गाथायें हैं। इन कथाओं में भविस्सयत्तकहा ने उत्तरकालीन आचार्यों को विशेष प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त एकादशीव्रतकथा (१३७ गा०) आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

## लाक्षणिक साहित्य

लाक्षणिक साहित्य से हमारा तात्पर्य है— व्याकरण, कोश, छन्द, ज्योतिष, निमित्त व शिल्पादि विधायें। इन सभी विधाओं पर प्राकृत रचनायें मिलती हैं। अणुयोगदारसुत्त आदि प्राकृत आगम साहित्य में व्याकरण के कुछ सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं पर आश्चर्य की बात है कि अभी तक प्राकृत भाषा में रचा कोई भी प्राकृत

**व्याकरण** उपलब्ध नहीं हुआ। समन्तभद्र, वीरसेन और देवेन्द्रसूरि के प्राकृत व्याकरणों का उल्लेख अवश्य मिलता है पर अभी तक वे प्रकाश में नहीं आ पाये। सम्भव है, वे ग्रन्थ प्राकृत में रचे गये हों। संस्कृत भाषा में लिखे गये, प्राकृत व्याकरणों में चण्ड का स्ववृत्तिसहित प्राकृत व्याकरण (९९ अथवा १०३ सूत्र), हेमचन्द्रसूरि का सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (१११९ सूत्र), त्रिविक्रम (१३वीं शती) का प्राकृतशब्दानुशासन (१०३६ सूत्र) आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणविषयक नियमों-उपनियमों का सुन्दर वर्णन मिलता है।<sup>१</sup>

भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोश की भी आवश्यकता होती है। कोश की दृष्टि से निरुक्तियों का विशेष महत्त्व है। उनमें एक-एक शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत कोशकला के उद्भव और विकास की दृष्टि से उनको समझना आवश्यक है। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (७८३ गा०) में ३९७ देशज शब्दों का संकलन किया गया है जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। इसके अतिरिक्त धनपाल (सं० १०२९) का पाइयलच्छी नाममाला (२७९ गा०), विजयराजेन्द्रसूरि (सं० १६६०) का अभिधानराजेन्द्रकोश (चार लाख श्लोक प्रमाण) और हरगोविन्ददास त्रिविक्रमचन्द्र सेठ का पाइयसद्महण्णव (प्राकृत-हिन्दी) कोश भी यहाँ उल्लेखनीय हैं।

संवेदनशीलता जागृत करने-कराने के लिए छन्द का प्रयोग हुआ है। नंदियड्ड (लगभग १०वीं शती) का गाहालक्खण (९६गा०) उल्लेखनीय प्राकृत छन्द ग्रन्थ है।

**गणित** के क्षेत्र में महावीराचार्य का गणितसारसंग्रह तथा भास्कराचार्य की लीलावती प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन दोनों के आधार से उनमें उल्लिखित विषयों को लेकर ठक्कर फेरू (१३वीं शती) ने गणितसारकौमुदी नामक ग्रन्थ रचा। उनके अन्य ग्रन्थ हैं— रत्नपरीक्षा (१३२ गा०), द्रव्यपरीक्षा (१४९ गाथा) धातूत्पत्ति (५७ गा०), भूगर्भप्रकाश आदि। यहाँ यतिवृषभ (छठी शती) की तिलोयपण्णत्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें लेखक ने जैन मान्यतानुसार त्रिलोक सम्बन्धी विषय को उपस्थित किया है। यह अठारह हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ है।

१. विशेष देखिये, आधुनिक युग में प्राकृत व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान डॉ. भागचन्द्र जैन पृ. २३९-२६१.

**ज्योतिष** विषयक ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि अंगबाह्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ठक्कर फेरू का ज्योतिस्सार (९८ गा०) हरिभद्रसूरि की लग्गसुद्धि (१३३ गा०), रत्नशेखरसूरि (१५वीं शती) की दिणसुद्धि (१४४ गा०), हीरकलश (सं. १६२१) का ज्योतिस्सार (९०० दोहा) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। निमित्तशास्त्र में भौम, उत्पात, स्वप्न, अंग, अन्तरिक्ष, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन आदि निमित्तों का अध्ययन किया गया है। किसी अज्ञात कवि का जयपाहुड (३७८ गा०), धरसेन का जोगिपाहुड, ऋषिपुत्र का निमित्तशास्त्र (१८७ गा०), दुर्गदेव (सं. १०८४) का रिद्धिसमुच्चय (२६१ गा०) आदि रचनायें प्रमुख हैं। अंगविज्ञान एक अज्ञातकर्तृक रचना है जिसमें ६० अध्यायों में शुभाशुभ निमित्तों का वर्णन किया गया है। ९-१०वीं शती के पूर्व का यह ग्रन्थ सांस्कृतिक सामग्री से भरा हुआ है। करलक्खण (६१ गा०) भी किसी अज्ञात कवि की रचना है जिसमें लक्षण, रेखाओं आदि का वर्णन है।

वास्तु शिल्प शास्त्र के रूप में ठक्कर फेरू का वास्तुसार (९२८० गा०) प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जिसमें भूमिपरीक्षा, भूमिशोधन आदि पर विवेचन किया गया है। इसी कवि की एक अन्य कृति रत्नपरीक्षा (१३२ गा०) है जिसमें पद्मराग, मुक्ता, विद्रुम आदि १६ प्रकार के रत्नों का उत्पत्ति-स्थान, आकार, वर्ण, गुण दोष आदि पर विचार किया गया है। उन्हीं की द्रव्यपरीक्षा (१४८ गा०) में सिक्क के मूल्य, तौल, नाप आदि पर, धातुत्पत्ति (५७ गा०) में पीतल, तांबा आदि धातुओं पर तथा भूगर्भप्रकाश में ताम्र, स्वर्ण आदि द्रव्य वाली पृथ्वी की विशेषताओं पर विशद प्रकाश डाला गया है। ये सभी ग्रन्थ वि.सं. १३७२-७५ के बीच रचे गये हैं।

इस प्रकार प्राकृत भाषा और साहित्य के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जा है कि जैनाचार्यों ने उसकी हर विधा को समृद्ध किया है। प्रस्तुत अध्याय स्थानाभाव के कारण सभी का उल्लेख करना तो सम्भव नहीं हो सका। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्राकृत जैन साहित्य लगभग पच्चीस सौ वर्षों से साहित्य के हर क्षेत्र में अपने योगदान से हरा-भरा करता आ रहा है। प्राचीन साहित्य, इतिहास और संस्कृति का हर प्राङ्गण प्राकृत साहित्य का ऋणी है। उसने लोकभाषा और लोकजीवन को अंगीकार कर उनकी समस्याओं के समाधान की दिशा में आध्यात्मिक चेतना को जागृत किया। इतना ही नहीं, आधुनिक साहित्य के लिए भी वह उपजीव्य बना हुआ है। प्रेमाख्यान काव्यों के विकास में प्राकृत जैन कथा साहित्य को भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत चम्पू और चरित काव्य के प्रेरक प्राकृत ग्रन्थ ही हैं। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का सरस प्रतिपाद

भी यहाँ हुआ है। दर्शन और सिद्धान्त से लेकर भाषाविज्ञान, व्याकरण और इतिहास तक सब कुछ प्राकृत जैन साहित्य में निबद्ध है। उसके समूचे योगदान का मूल्यांकन अभी शेष है।

## संस्कृत साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा के समान संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और इस क्षेत्र को भी अपने पुनीत योगदान से अलंकृत किया। यद्यपि संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम रचना करने वाले जैनाचार्यों में उमास्वाति अथवा उमास्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है पर हम यहाँ समूचे संस्कृत जैन साहित्य को विविध विधाओं में वर्गीकृत कर उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी समझ रहे हैं। साथ ही विधाओं का जैसा क्रम प्राकृत साहित्य में हमने रखा है वही क्रम यहाँ भी अपना रहे हैं।

## चूर्णि और टीका साहित्य

चूर्णि साहित्य प्रायः प्राकृत में लिखा गया है। कुछ चूर्णियाँ ऐसी हैं जिनमें संस्कृत के कुछ गद्यांश और पद्यांश उद्धृत किये गये हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, निशीथचूर्णि और बृहतकल्पचूर्णि ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें अल्पसंस्कृत-मिश्रित प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

आगम साहित्य पर जो टीकात्मक अथवा विवरणात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं वे संस्कृत में हैं। इस प्रकार की प्रमुख टीकायें और उनके टीकाकार इस प्रकार हैं—

		श्लोक प्रमाण
जिनभद्र (७वीं शती)	विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति	३६०३ "
हरिभद्र (८वीं शती)	आवश्यकवृत्ति	२२००० "
	दशवैकालिकवृत्ति	
	जीवाभिगमवृत्ति	
	प्रज्ञापनावृत्ति	
	नन्दिवृत्ति	
	अनुयोगद्वारवृत्ति	
कोट्याचार्य (८वीं शती)	विशेषावश्यकभाष्यविवरण	१३७०० "
शीलांक (९-१०वीं शती)	आचारांगविवरण	१२००० "



	सूत्रकृतांगविवरण	१२८५० "
शान्तिसूरि (११वीं शती)	उत्तराध्ययनटीका	
द्रोणसूरि (११-१२वीं शती)	ओघनिर्युक्ति वृत्ति	
अभयदेव (१२वीं शती)	स्थानांग वृत्ति	१४२५० "
	समवायांग वृत्ति	३२७५ "
	व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति	१८६१६ "
	ज्ञाता धर्मकथा विवरण	३८०० "
	उपासक दशांग वृत्ति	
	अन्तःकृद्दशांगवृत्ति	
	अनुत्तरौपपातिक दशावृत्ति	
	प्रश्न व्याकरण वृत्ति	
	विपाक वृत्ति	
	औपपातिकवृत्ति	
मलयगिरि(११-१२वीं शती)	भगवतीसूत्र-द्वितीय शतकवृत्ति	३७५० "
	राजप्रश्नोपांगटीका	३७०० "
	जीवाभिगमोपांगटीका	१६००० "
	प्रज्ञापनोपांगटीका	१६००० "
	चन्द्रप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५०० "
	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका	९५०० "
	नन्दसूत्रटीका	७७३२ "
	व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४००० "
	बृहत्पकल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६०० "
	आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८००० "
	पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७०० "
	ज्योतिष्करणडकटीका	५००० "
	धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००० "
	कर्मप्रकृतिवृत्ति	८००० "
	पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५० "
	षडशीतिवृत्ति	२००० "

	सप्ततिकावृत्ति	३७८०	”
	बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	”
	बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	”
	मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००	”
मलधारी हेमचन्द्र(१२वीं शती)	आवश्यकवृत्तिप्रदेश व्याख्या	४६००	”
	अनुयोगद्वारवृत्ति	५९००	”
	विशेषावश्यक भाष्य-वृहत्त्वृत्ति	२८०००	”
	शतक विवरण		
	उपदेश माला सूत्र		
	उपदेशमालावृत्ति		
	जीवसमासविवरण	४१५००	”
	भवभावना सूत्र		
	भवभावना विवरण		
	नन्दि टिप्पण		
नेमिचन्द्र (१०७२ ई०)	उत्तराध्ययन सुखबोधोटीका	१२०००	’
श्रीचन्द्रसूरि (१२वीं शती)	निशीथचूर्णि दुर्गपदव्याख्या		
	निरयावलिकावृत्ति	६००	”
	जीतकल्पवृहच्चूर्णि	११२०	”
क्षेमकीर्ति (१२७५ ई०)	बृहत्कल्पवृत्ति	४२६००	”
माणिक्यशेखरसूरि(१५वींशती)	आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका		
महेश्वरसूरि (१५वीं शती)	आचारांगदीपिका		
विमलसूरि (१६३२ ई०)	उत्तराध्ययनव्याख्या	१६२५५	”
समयसुन्दरसुरि (१६३४ ई०)	दशवैकालिकदीपिका	३४५०	”
ज्ञानविमलसूरि (१८वीं शती)	प्रश्नव्याकरण वृत्ति	७५००	”
संघविजयगणि (१६१७ ई०)	कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका	३२५०	”
विनयविजय उपाध्याय (१६३९ई०)	कल्पसूत्र सुबोधिका	५४००	”
समयसुन्दरगणि (१७वीं शती)	कल्पसूत्र-कल्पलता	७७००	”
शान्तिसागरगणि (१६५० ई०)	कल्पसूत्रकौमुदी	३७०७	”

## कर्म साहित्य

मूलकर्म साहित्य प्राकृत में लिखा गया है पर टीका साहित्य संस्कृत में भी मिलता है। शाम कुण्ड ने कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत पर प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित भाषाओं में बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी पर वह आज उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार समन्तभद्र ने भी कर्मप्राभृत पर ४८००० श्लोक प्रमाण सुन्दर संस्कृत भाषा में टीका लिखी, पर वह भी आज नहीं मिलती। उपलब्ध टीकाओं में कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) पर वीरसेन द्वारा लिखी प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित, धवला टीका उल्लेखनीय है जो ७२००० श्लोक प्रमाण है। इसके बाद उन्होंने कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर २०००० श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी जो पूरी नहीं हो सकी। उस अधूरे काम को जयसेन (जिनसेन) ने ४०००० श्लोक प्रमाण में लिखकर पूरा किया।<sup>१</sup> कषायपाहुड की रचना आचार्य गुणधर (ई. द्वितीय शती) ने तथा कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) की रचना पुष्पदन्त-भूतबलि (प्रथम शताब्दी) ने शौरसेनी प्राकृत में की थी। यहाँ कषायप्राभृत पर संस्कृत में लिखी गई वीरसेनजिनसेनकृत जयधवला टीका (शक सं. ७३८) ही विशेष उल्लेखनीय है। यह साठ हजार श्लोक प्रमाण बृहत्काय ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। उत्तरकालीन पञ्चसंग्रह आदि कर्मग्रन्थ इन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं।

षट्खण्डागम और कषायपाहुड की भाषा शौरसेनी है जिसका पूर्वरूप हमें अशोक के गिरनार शिलालेख (ई.पू. ३री शती) में मिलता है। धवला टीका मणिप्रवाल शैली (गद्यात्मक प्राकृत तथा क्वचित् संस्कृत) में लिखी गई है। उसमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं— १. सूत्रों की प्राकृत जो प्राचीनतम शौरसेनी के रूप में है, २. उद्धृत गाथाओं की प्राकृत, और ३. गद्य प्राकृत। यहाँ शौरसेनी प्राकृत के साथ-साथ अर्धमागधी प्राकृत की कतिपय विशेषतायें दृष्टव्य हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत के ये तीन स्तर उसके भाषा विकासात्मक रूप में परिचायक हैं। शौरसेनी के महाराष्ट्री प्राकृत का मिश्रण उत्तरकाल में मिलने लगता है। दण्डी के अनुसार शौरसेनी ने ही महाराष्ट्र में नया रूप धारण किया जिसे महाराष्ट्री प्राकृत कहा जाता है। वही उत्कृष्ट प्राकृत है (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श)। सेतुबन्ध आदि महाकाव्य इसी भाषा में लिखे गये (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ७६-७७)।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कर्म साहित्य उसके कर्मप्रकृति, शतक, पञ्चसंग्रह

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ. ३८.

और सप्ततिका नामक कर्मग्रन्थों पर आधारित है। कर्मप्रकृति पर दो संस्कृत टीकायें हैं— एक मलयगिरिकृत (१२-१३वीं शती) वृत्ति (८००० श्लोक प्रमाण) और दूसरी यशोविजय (१८वीं शती) कृत वृत्ति (१३००० श्लोक प्रमाण)। पञ्चसंग्रह की व्याख्याओं में दो व्याख्यायें महत्त्वपूर्ण हैं चन्द्रर्षि महत्तरकृत स्वोपज्ञवृत्ति (९००० श्लोक प्रमाण) तथा मलयगिरिकृत वृहदवृत्ति (१८८५० श्लोक प्रमाण)। छोटी-मोटी और भी टीकायें प्रकाशित हुई हैं।

## सिद्धान्त साहित्य

आचार्य उमास्वाति (वि. १-२ शती) प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्राकृत में लिखित सिद्धान्त साहित्य को संस्कृत में सूत्र-बद्ध किया। उनके तत्त्वार्थ-सूत्र पर ही उत्तरकाल में सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक वृहत्काय ग्रन्थों की रचना हुई। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों पर संस्कृत में अनेक टीकायें रची गईं। प्रवचनसार और समयसार पर अमृतचन्द्र (१०वीं शती) और जयसेन (१२वीं शती) की टीकायें, नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारीदेव, पञ्चास्तिकाय पर अमृतचन्द्र, जयसेन, ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण, प्रभाचन्द्र आदि की टीकायें तथा अट्टपाहुड पर श्रुतसागर, अमृतचन्द्र, आदि की टीकायें मिलती हैं। जीववियार पर पाठक रत्नाकर (वि.सं. १६१०), मेघनन्दन (वि.सं. १६१०), समयसुन्दर तथा क्षमाकल्याण (वि.सं. १८५९) ने, जीवसमास पर हेमचन्द्र (६६२७ श्लोक प्रमाण) ने, समयखित्तसमास पर हरिभद्रसूरि, मलयगिरिसूरि व रत्नशेखरसूरि ने, पवयणसारुद्धार पर सिद्धसेनसूरि (वि.सं. १२४८) ने १६५०० श्लोक प्रमाण और उदयप्रभ ने ३२०३ श्लोक प्रमाण, तथा सत्तरिसयठाणपयरण पर देवविजय (वि.सं. १३७०) ने २१०० श्लोक प्रमाण टीकायें लिखी हैं।

सिद्धान्त साहित्य में टीकात्मक ग्रन्थों की संख्या अवश्य अधिक है पर उनमें मौलिकता की कमी नहीं। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हैं। जैसे अमृतचन्द्रसूरि का पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, व तत्त्वार्थसार, माघनन्दी (१३वीं शती) का शास्त्रसार समुच्चय, तथा जिनहर्ष (वि.सं. १५०२) का विंशतिस्थानकविचारामृतसंग्रह (२८०० श्लोक परिमाण) उल्लेखनीय हैं।

उपदेशात्मक साहित्य भी टीकात्मक अधिक है। मूलतः वे प्राकृत में लिखे गये हैं पर बाद में उन पर संस्कृत में टीकायें हुई हैं। जैसे— उवएसमाला पर लगभग बीस संस्कृत टीकायें हैं जिनमें सिद्धर्षि (वि.सं. १६२) और रत्नप्रभसूरि (वि.सं. १२३८) की टीकायें अग्रगण्य कही जा सकती हैं। जयशेखर (वि.सं.

१४६२) की प्रबोधचिन्तामणि (१९११ पद्य) सोमधर्मगणी, (वि.सं. १५०३) की उपदेशसप्ततिका (३००० श्लोक प्रमाण), रत्नमन्दिरगणी (वि.सं. १५१७) की उपदेशतरंगिणी, गुणभद्र (९वीं शती) का आत्मानुशासन, हरिभद्रसूरि का धर्मबिन्दु, वर्धमान (वि.सं. ११७२) का धर्मरत्नकरण्डक, आशाधर (१२३९ ई.) के सागारधर्मामृत और अनगर धर्मामृत, जयशेखर (वि.सं. १४५७) की सम्यवत्वकौमुदी, चरित्ररत्नगणी (वि.सं. १४९९) का दानप्रदीप, उदयधर्मगणी (वि.सं. १५४३) का धर्मकल्पद्रुम, अमितगति (लगभग १००० ई.) के सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में हैं। उनपर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं।

## न्याय साहित्य

उत्तरकाल में सिद्धान्त ने न्याय के क्षेत्र में प्रवेश किया। आचार्यों ने उसे भी परिपुष्ट किया। समन्तभद्र (२-३री शती) की आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन इस क्षेत्र के प्राथमिक और विशिष्ट ग्रन्थ हैं। आप्तमीमांसा पर अकलंक (७२०-७८० ई.) की अष्टशती, विद्यानिदि (७७५-८४० ई.) की अष्टसहस्री, और वसुनन्दि (११-१२वीं शती) की देवागम वृत्ति उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मल्लवादी (३५०-४३० ई.) का नयचक्र, पूज्यपाद देवनन्दी (पंचम शती) की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेन (६-९वीं शती) के सन्मतितर्क और न्यायावतार, हरिभद्रसूरि (७०५-७७५ ई.) के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और अनेकान्त जयपताका, अकलंक (७२०-७८० ई.) के न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण संग्रह, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अष्टशती, विद्यानन्दि (७७५-८५० ई.) की प्रमाण परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, आप्तपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पत्रपरीक्षा, सिद्धर्षिगणि (९-१०वीं शती) की न्यायावतारटीका, माणिक्यनन्दि (१०-११वीं शती) का परीक्षामुख, प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड, अनन्तवीर्य (११वीं शती) की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई.) की प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वादिदेवसूरि (१२वीं शती) का प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिराजसूरि (१२वीं शती) के प्रमाणनिर्णय और न्यायविनिश्चय विवरण, मल्लिषेण (१३वीं शती) की स्याद्वादमंजरी, गुणरत्न (१३४३-१४१८ ई.) की षड्दर्शनसमुच्चयटीका आदि ग्रन्थ जैन न्याय के आधारस्तम्भ हैं। इस युग में अनेकान्तवाद की स्थापना तार्किक ढंग से की जा चुकी थी तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषाओं को स्थिर कर दिया गया था। नव्यन्याय के क्षेत्र में यशोविजय (१८वीं शती) के नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, अनेकान्त व्यावस्था, तर्कभाषा, न्यायलोक, न्यायखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ

भी उल्लेखनीय हैं। संस्कृत साहित्य के विकास में इन दार्शनिक और न्याय विषयक ग्रन्थों का एक विशिष्ट योगदान है। इनमें तार्किक पद्धति के माध्यम से सिद्धान्तों को प्रस्थापित किया गया है।

योग साहित्य अध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त करने का सुन्दरतम साधन है। संस्कृत जैन लेखकों ने इस पर भी खूब लिखा है। पूज्यपाद का इष्टोपदेश तथा समाधिशतक प्राचीनतम रचनायें होंगी। उनके बाद हरिभद्रसूरि सम्भवतः प्रथम आचार्य होंगे जिन्होंने और अधिक जैन योग विषय ग्रन्थों को संस्कृत में लिखने का उपक्रम किया। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं— योगबिन्दु (५२७ पद्य) योगदृष्टि-समुच्चय (२२६ पद्य) और ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय (४२३ पद्य)। इसी प्रकार हेमचन्द्र (१२वीं शती) का योगशास्त्र, शुभचन्द्र (१३वीं शती) का ज्ञानार्णव और रत्नशेखरससूरि (१५वीं शती) का ध्यानदण्डकस्तुति तथा आशाधर का आध्यात्मरहस्य आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। इसी प्रकार की योग विषयक और भी कृतियाँ हैं।

योग साधना के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन आवश्यक है। संस्कृत में द्वादशानुप्रेक्षा नाम से तीन ग्रन्थ मिलते हैं— सोमदेवकृत, कल्याणकीर्तिकृत और अज्ञातकर्तृक। मुनि सुन्दरसूरि का आध्यात्मकल्पद्रुम, यशोविजयगणि का आध्यात्मसार और आध्यात्मोपनिषद्, राजमल (वि.सं. १६४१) का आध्यात्मकमलमार्तण्ड, सोमदेव की अध्यात्मतरंगणी आदि ग्रन्थ अध्यात्म से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों में वन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को संयमितकर परम विशुद्धावस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका वर्णन किया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थ पर शुभचन्द्र भट्टारक (१५५६ ई०) की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

## आचार साहित्य

प्राकृत के समान संस्कृत में भी आचार साहित्य का निर्माण हुआ है। उमास्वाति (प्रथम-द्वितीय शती) का तत्त्वार्थसूत्र इस क्षेत्र की प्रथम रचना कही जा सकती है। कुछ विद्वान् प्रशमरतिप्रकरण को भी उन्हीं का ग्रन्थ मानते हैं। समन्तभद्र (द्वितीय-तृतीय शती) का रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमितगति (वि.सं. १०५०), का श्रावकाचार, अमृतचन्द्रसूरि (१००० ई०) का पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, सोमदेव का उपासकाध्ययन, माघनन्दि (वि.सं. १२६५) का श्रावकाचार, आशाधर के सागर-अनगार धर्माभूत, वीरनन्दी (१२वीं शती) का आचारसार, सोमप्रभसूरि (१२-१३वीं शती) का सिन्दूर प्रकरण और शृङ्गारवैराग्यतरंगणी, देवेन्द्रसूरि (१३वीं

शती) की संघाचारविधि, रत्नशेखरसूरि (वि.सं. १५१६) का आचार प्रदीप (४०६५ श्लोक प्रमाण), राजमल्ल (१७वीं शती) कृत लाटीसंहिता आदि ग्रन्थ भी आचार विषयक हैं।

### भक्तिपरक साहित्य

इनके अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध पूजा-प्रतिष्ठा आदि से रहा है। इनकी भी संख्या कम नहीं। ये ग्रन्थ भक्तिपरक हैं। पूज्यपाद की भक्तिपरक रचनायें इस क्षेत्र में सम्भवतः प्राचीनतम रही होंगी जिनकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द की भक्तिपरक कृतियों के आधार पर हुई। समन्तभद्र का देवागमस्तोत्र जिनस्तुतिशतक व स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धसेन की बत्तीसियाँ, अकलंक का अकलंकस्तोत्र, वप्पिभट्टि (७४३-८३८ ई०) का चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनञ्जय (८-९वीं शती) का विषापहारस्तोत्र, गुणभद्र (९वीं शती) का आत्मानुशासन, विद्यानन्दि (८-९वीं शती), का सुपार्श्वनाथस्तोत्र, अमितगति (१०वीं शती) कृत सुभाषित रत्नसंदोह, वादिराज (१०-११वीं शती) कृत एकीभाव स्तोत्र, वसुनन्दि (११वीं शती) कृत ज्ञानार्णव, आशाधर (१२-१३वीं शती) कृत सहस्रनामस्तोत्र, अर्हदास (१३वीं शती) कृत भव्यजनकंठाभरण, पद्मनन्दि (१४वीं शती) कृत जरीपल्लीपार्श्वनाथ स्तोत्र, वैराग्यशतक, विमलकवि (१५वीं शती) कृत प्रश्नोत्तरमाला, दिवाकरमुनि (१५वीं शती) कृत शृङ्गारवैराग्यतरंगणी आदि ग्रन्थ भक्तिपरक हैं। भक्तों ने इन संस्कृत ग्रन्थों में अपने इष्टदेव की स्तुति की है। लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में अलंकारों ने किसी न किसी की स्तुति की है जिनका अभी तक संकलन नहीं हो पाया। सूत्रकृतांग में तो वीरस्तुति नाम का समूचा अध्याय है।

कुछ ग्रन्थ प्रतिष्ठाओं से सम्बद्ध है। “प्रतिष्ठाकल्प” नाम के ऐसे अनेक ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं परन्तु उनमें से हेमचन्द्र, हस्तिमल और हरिविजय सूरि के ही प्रतिष्ठाकल्प अभी तक प्रकाश में आये हैं। इनके अतिरिक्त वसुनन्दि का प्रतिष्ठासारसंग्रह व आशाधर का प्रतिष्ठा सारोद्धार भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

जैनधर्म में मन्त्र-तन्त्र की भी परम्परा रही है। सूरिमंत्र जिनप्रभसूरि का सूरिमन्त्रबृहत्कल्प विवरण, सिंहतिलकसूरि (१३वीं शती) का मन्त्रराजरहस्य, मल्लिषेण के भैरवपद्मावतीकल्प, कामचाण्डालिनीकल्प, सरस्वतीकल्प, विनयचन्द्रसूरि का दीपालिकाकल्प आदि मन्त्र-तन्त्रात्मक रचनायें प्रसिद्ध हैं। पंचमेरुसिद्धचक्रविधान, चतुर्विंशति विधान आदि विधिपरक रचनायें भी मिलती हैं। विविध तीर्थकल्प

को भी इसी में सम्मिलित किया जा सकता है जिसमें जिनप्रभसूरि ने जैन तीर्थों का ऐतिहासिक वर्णन किया है।

## पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य का सम्बन्ध जैनधर्म में मान्य महापुरुषों से आता है। इनमें उनके चरित, कर्मफल, लोकतत्त्व, दिव्यतत्त्व, आचारतत्त्व आदि का वर्णन किया जाता है। यहाँ तीर्थङ्करों, चरितनायकों, साधकों अथवा राजाओं के जीवन चरित्र को काव्यात्मक आधार देकर उपस्थित किया गया है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का कथानक सार्वदेशिक और सार्वकालिक रहा है। जैन काव्य धारा में भी उसकी अनेक परम्परायें सामने आयीं और उनमें काव्य लिखे गये। संस्कृत में लिखे काव्यों में रविषेण (वि०सं० ७३४) का पद्मपुराण अथवा पद्मचरित, (१८०२३ श्लोक), जिनदास (१६वीं शती), सोमसेन, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति आदि विद्वानों के पद्मपुराण प्रसिद्ध हैं। महाभारत विषयक पौराणिक महाकाव्यों में जिनसेन का हरिवंशपुराण (शक सं० ७०५), देवप्रभसूरि (वि०सं० १२७०) का पाण्डवचरित, सकलकीर्ति (१५वीं शती) का हरिवंशपुराण, शुभचन्द्र (वि०सं० १६०८), वादिचन्द्र (वि०सं० १६५४) व श्रीभूषण (वि०सं० १६५७) आदि के पाण्डवपुराण प्रमुख हैं। इस कथा को जैनाचार्यों ने बड़ी प्रगतिशीलता एवं बौद्धिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

त्रेसठशलाका महापुरुषों से सम्बद्ध संस्कृत साहित्य परिमाण में कहीं और अधिक है। जिनसेन का आदिपुराण, गुणभद्र (८वीं शती) का उत्तरपुराण (शक सं० ७७०), श्रीचन्द्र का पुराणसार (वि०सं० १०८०), दामनन्दि (११वीं शती) का पुराणसार संग्रह- मुनि मल्लिषेण का त्रिषष्टिमहापुराण (वि०सं० ११०४), आशाधर का त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (वि०सं० १२८२), हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (वि०सं० १२२८) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अमृतचन्द्र का चतुर्विंशतिजिनेन्द्र संक्षिप्तचरितानि (१२३८ ई०), अमरचन्द्रसूरि का पद्मानन्द महाकाव्य (वि०सं० १२९४), वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित (११वीं शती), मानतुंगसूरि का श्रेयांसनाथचरित (वि०सं० १३३२), वर्धमानसूरि का वासुपूज्यचरित (वि०सं० १२९९), ज्ञानसागर का विमलनाथचरित (वि०सं० १५१७), असग का शान्तिनाथपुराण (शक सं० ९१०), माणिक्यचन्द्रसूरि का शान्तिनाथचरित<sup>१</sup>

१. जितप्रभसूरि, देवसूरि, भावचन्द्रसूरि आदि अनेक लेखकों के भी इस नाम से ग्रन्थ मिलते हैं।



(वि०सं० १२७६), विनयचन्द्र सूरि का मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतनाथचरित, कीर्तिराज उपाध्याय का नेमिनाथ महाकाव्य (१४वीं शती), गुणविजयगणि का नेमिनाथचरित (वि०सं० १६६८), वादिराजसूरि (शकसं० ९४७), माणिक्यचन्द्रसूरि, विनयचन्द्रसूरि, भावदेवसूरि आदि के पार्श्वनाथचरित, असग का महावीरचरित (वि०सं० १०४५), सकलकीर्ति का वर्धमानचरित आदि ग्रन्थ भी उत्तमकोटि के हैं।

चक्रवर्तियों पर भी अनेक संस्कृत काव्य लिखे गये हैं। चौबीस कामदेवों में नल भी एक लोकप्रिय विषय रहा है जिस पर लगभग पन्द्रह काव्य लिखे गये हैं। उनके अतिरिक्त हनुमान, वसुदेव, बलिराज, प्रद्युम्न<sup>१</sup> नागकुमार,<sup>२</sup> जीवन्धर और जम्बूस्वामी पर भी शताधिक संस्कृत काव्यों का प्रणयन हुआ है। जीवन्धर का आधार लेकर क्षत्रचूडामणि, गद्यचिन्तामणि (वादीभ सिंह), जीवन्धरचम्पु (हरिचन्द्र) तथा जम्बूस्वामीचरित का आधार लेकर पच्चीसों ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रत्येकबुद्धों (करकुण्ड, नगर्गई, नमि और दुर्मुख) पर श्वेताम्बर परम्परा में अधिक ग्रन्थ लिखे गये हैं<sup>३</sup> जबकि दिग्म्बर परम्परा में केवल करकण्डु को रचना का विषय बनाया गया है।

इनके अतिरिक्त काव्य में कुछ ऐसे भी महापुरुषों के जीवनचरितों को अपने लेखक का विषय बनाया गया है जिनका सम्बन्ध महावीर, श्रेणिक अथवा जैन संस्कृति से रहा है। ऐसे चरितों में धन्यकुमार, शालिभद्र, पृथ्वीचन्द्र, आद्रक कुमार, जयकुमार, सुलोचना, पुण्डरीक, वरांग, श्रेणिक, अभयकुमार, गौतम, मृगापुत्र, सुदर्शन, चन्दना, मृगावती, सुलसा आदि व्यक्तियों पर लिखे गये चरित काव्यों की संख्या शताधिक है। आचार्यों को भी चरित काव्यों का विषय बनाया गया है। भद्रबाहु, स्थूलभद्र, कालकाचार्य वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, सिद्धसेन वप्पिभट्टि, हरिभद्रसूरि, सोमसुन्दरसूरि, सुमतिसम्भव, हीरसौभाग्य, विजयदेव, भानुचन्द्रगणि, दिग्विजय, जिनकृपाचन्द्रसूरि आदि ऐसे ही प्रमुख आचार्य कहे जा सकते हैं जिनपर जैन विद्वानों ने संस्कृत काव्य लिखे हैं।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक महापुरुषों पर भी संस्कृत महाकाव्य का सृजन किया है इससे उनके ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है। हेमचन्द्र के कुमारपाल

१. महासेनाचार्य सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, यशोधर आदि के प्रद्युम्नचरित उपलब्ध हैं।
२. मल्लिषेण, धर्मधर, दामनन्दि आदि के नागकुमारचरित प्राप्त हैं।
३. कुम्पापुत्र और अम्बड को भी प्रत्येक बुद्धों से सम्बद्ध किया जाता है।

और द्वाश्रय महाकाव्य (संस्कृत-प्राकृत मिश्रित), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वि०सं० १२७८), बालचन्द्रसूरि का वसन्तविलास (वि०सं० १३३४), नयचन्द्रसूरि का हम्मीर महाकाव्य (वि०सं० १४४०), जिनहर्षगणि का वस्तुपालचरित (वि०सं० १४९७), सर्वानन्द का जगडूचरित (वि०सं० १३५०), प्रभाचन्द्र का प्रभावकचरित (वि०सं० १३३४), तथा मेरुतुंगसूरि का प्रबन्ध चिन्तामणि (वि०सं० १३६१), आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित राजाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योगदान दिया है। इसी प्रकार अनेक प्रशस्तियाँ, पट्टावलियाँ गुर्वावलियाँ, तीर्थमालायें, शिलालेख, मूर्तिलेख आदि भी संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं।

### कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने सम्भवतः कथा ग्रन्थों की सर्वाधिक रचना की है। यद्यपि ये कथायें घटना-प्रधान अधिक हैं, परन्तु उनमें एक विशेष लक्ष्य दिखाई देता है। यह लक्ष्य है — आध्यात्मिक चरम साधना के उत्कर्ष की प्राप्ति। इस सन्दर्भ में लेखकों ने आगमों में वर्णित कथाओं का आश्रय तो लिया ही है, साथ ही नीति कथाओं की पृष्ठभूमि में लौकिक कथाओं का भी भरपूर उपयोग किया है। हरिषेण का बृहत्कथा कोष (वि०सं० ९५५), प्रभाचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के कथाकोश, सोमचन्द्रगणि का कथा महादधि (वि०सं० १५२०), शुभशीलगणि का प्रबन्ध पञ्चशती, सकलकीर्ति आदि के व्रतकथाकोष, गुणरत्नसूरि का कथार्णव, अनेक कवियों के पुण्याश्रव कथाकोश आदि रचनायें श्रेष्ठ संस्कृत काव्य को प्रस्तुत करती हैं। इनमें तत्कालीन प्रचलित अथवा कल्पित कथाओं को जैन धर्म का पुट देकर निबद्ध किया है। धर्माभ्युदय, सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मकल्पद्रुम, धर्मकथा, उपदेशप्रासाद, सप्तव्यसन कथा आदि कथात्मक ग्रन्थों में व्रत पूजादि से सम्बद्ध कथाओं का संकलन है। धर्मपरीक्षा नाम के भी अनेक कथा ग्रन्थ इसी विषय से सम्बद्ध मिलते हैं। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चकथा (वि०सं० ९६२) तथा नागदेव का मदनपराजय (लगभग १५वीं शती) जैसे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जो रूपक शैली में कर्मकथा कहने का उपक्रम करते हैं।

धर्म के किसी पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए साहित्य अथवा इतिहास से किसी व्यक्ति का चरित उठा लिया गया और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया। यशोधर का चरित्र ऐसा ही क्रम है जो लेखकों को बड़ा प्रिय लगा। सोमदेव (१०वीं शती) ने उसे यशस्तिलकचम्पू में निबद्ध कर और भी रुचिकर बना दिया। दशों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में इस कथा का आधार लेकर रचे गये

हैं। अहिंसा के माहात्म्य को यहाँ अभिव्यक्ति किया गया है। लगभग बीस ग्रन्थ 'श्रीपालचरित' के मिलते हैं जिनमें सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रस्तुत किया गया है। भविष्यदत्तकथा, मणिपतिचरित, सुकोशलचरित, सुकुमालचरित, जिनदत्तचरित, गुणवर्मचरित, चम्पकश्रेष्ठीकथा, धर्मदत्तकथा, रत्नपालकथा, नागदत्तकथा, आदि सैकड़ों ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें इस प्रकार की कथाओं के माध्यम से धर्म और संस्कृति को उद्घाटित किया गया है।

कुछ ऐसे भी कथा ग्रन्थ हैं जिनमें महिला वर्ग को पात्र बनाया गया है। रत्नप्रभाचार्य (१३वीं शती) की कुवलयमालाकथा, जिनरत्नसूरि (वि०सं० १३४०) की निर्वाणलीलावतीकथा, माणिक्यसूरि (१५वीं शती) की महाबलमलयसुन्दरी आदि शताधिक कथाग्रन्थ प्रसिद्ध हुए हैं।

इसी प्रकार तिथि, पर्व, पूजा, स्तोत्र, व्रत आदि से सम्बद्ध सैकड़ों कथाये हैं जिन्हें जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है। विक्रमादित्य की कथा भी बहुत लोकप्रिय हुई है। कुछ धूर्ताख्यान और नीतिकथात्मक साहित्य भी मिलता है। जिनसे जीवन की सफलता के सूत्र सम्बलित किये जाते हैं।

### ललित वाङ्मय

जैनाचार्यों ने संस्कृत के ललित वाङ्मय को भी बहुत समृद्ध किया है। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, नीतिकाव्य, सन्देशकाव्य, नाटक आदि अनेक विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है। महासेनसूरि का प्रद्युम्नचरित (१०वीं शती), वाग्भट का नेमिनिर्वाण काव्य (१०वीं शती), वीरनन्दि (११वीं शती) का चन्द्रप्रभचरित, असग का वर्धमानचरित (१०वीं शती), हरिचन्द का धर्मशर्माभ्युदय (१३वीं शती), जिनपालगणि (१३वीं शती) का सनत्कुमारचरित, अभयदेवसूरि (वि०सं० १२७८) का जयन्तविजय, वस्तुपाल (१३वीं शती) का नरनारायणनन्द, अर्हत्दास (१३वीं शती) के मुनिसुव्रत काव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यकण्ठाभरण, जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित (वि०सं० १३५६), मुनिभद्रसूरि का शान्तिनाथचरित (वि०सं० १४१०), भूरामल का जयोदय महाकाव्य (वि०सं० १९९४) आदि महाकाव्य परम्परागत महाकाव्यों के लक्षणों से अलंकृत हैं। उनकी भाषा भी प्राञ्जल और ओजमयी है। धनञ्जय (८वीं शती) का द्विसन्धान महाकाव्य और मेघविजयगणि का सप्तसन्धान महाकाव्य (वि०सं० १७६०), जयशेखरसूरि का जैनकुमार सम्भव (वि०सं० १४८३), धनपाल (१वीं शती) की तिलकमञ्जरी, वादीभरिसिंह (१०१५-११५० ई०) की गद्य चिन्तामणि, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू (वि०सं० १०१६), हरिचन्द का जीवन्धरचम्पू आदि काव्य भी संस्कृत साहित्य के आभरण

कहे जा सकते हैं।

सन्देश काव्यों में पार्श्वभ्युदय (जिनसेनाचार्य, ८वीं शती) नेमिदूत (विक्रम १४वीं शती), जैनमेघदूत (मेरुतुंग, १४वीं शती), शीलदूत (चरित्र सुन्दरगणि, वि०सं० १४८४), पवनदूत (वादिचन्द्र, वि०सं० १७२७), चेतोदूत, मेघदूत समस्यालेख, इन्द्रदूत, चन्द्रदूत आदि काव्यों में गीतितत्त्व वस्तुकथा का आश्रय लेकर सुन्दर ढंग से सँजोये गये हैं। जैनस्तोत्र साहित्य तो और भी समृद्ध है उसके भक्तामरस्तोत्र कल्याणमन्दिर स्तोत्र, जिनसहस्रनाम तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों का कम योगदान नहीं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, रूपक और काल्पनिक विद्याओं में नाटकों की रचना की है। रामचन्द्र (१३वीं शती) के सत्य हरिचन्द्र, नलविलास, मल्लिकामकरन्द, कौमिदी मित्राणंद, रघुविलास, निर्भयभीम व्यायोग, रोहिणी मृगांक, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय और वनमाला, देवचन्द्र का चन्द्रविजय प्रकरण विजयपाल का द्रौपदी स्वयंवर, रामभद्र का प्रबुद्धरोहिण्य, यशपाल का मोहराज पराजय (१३वीं शती) यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र, हस्तिमल्ल (१३-१४वीं शती) के अंजना-पवनंजय, सुभद्रानाटिका, विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, वादिचन्द्र का ज्ञान सूर्योदय (वि०सं० १६४८) आदि दृश्यकाव्य एक ओर जहाँ नाटकीय तत्त्वों से भरे हुए हैं वहीं उनमें जैन तत्त्वों का भी पर्याप्त अंकन है। इन सभी काव्यों में यद्यपि शृङ्गार आदि रसों का यथास्थान प्रयोग हुआ है पर प्रमुख रूप से शान्त रस ने स्थान लिया है। जयसिंह सूरिकृत हम्मिरमर्दन, रत्नशेखरसूरिकृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्यकृत मदन पराजय भी उत्तम कोटि की नाट्य कृतियाँ हैं।

### लाक्षणिक-साहित्य

लाक्षणिक साहित्य के अन्तर्गत व्याकरण, कोश, अलङ्कार, छन्द, संगीत, कला, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प इत्यादि विधायें सम्मिलित होती हैं। जैनाचार्यों ने इन विधाओं को भी उपेक्षित नहीं होने दिया। व्याकरण के क्षेत्र में देवनन्दि (६वीं शती) का जैनेन्द्र व्याकरण और उस पर लिखी अनेक वृत्तियाँ पाल्यकीर्ति (९वीं शती) का शाकटायन व्याकरण और उन पर लिखी वृत्तियाँ, हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन और उस पर लिखी अनेक वृत्तियाँ सर्वविदित हैं। उन्होंने जैनेतर सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा लिखित व्याकरण ग्रन्थों पर बीसों टीकायें लिखी हैं जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। गुणनन्दी, सोमदेव, अभयनन्दी, पाल्यकीर्ति, गुणरत्न, भावचन्द्र त्रैविद्य आदि आचार्य इस क्षेत्र के प्रधान पण्डित रहे हैं।

कोश के क्षेत्र में धनञ्जय (११वीं शती) की धनञ्जयनाममाला और अनेकार्थ नाममाला, हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि नाममाला और निघण्टु शेष तथा उन पर अनेक वृत्तियाँ, धरसेन (१३-१४वीं शती) का विश्वलोचन कोश आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, वाग्भट का वाग्भटालंकार (१२वीं शती), नरेन्द्रप्रभसूरि का अलङ्कार महोदधि (वि०सं० १२८०), विनयचन्द्रसूरि की काव्य शिक्षा (१३वीं शती) आदि अनेक अलङ्कारशास्त्र उल्लेखनीय हैं। काव्यकल्पलता, नाट्यदर्पण, अलङ्कार चिन्तामणि, अलङ्कारशास्त्र, काव्यालङ्कार सार आदि और भी प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष के क्षेत्र में प्रश्नपद्धति, भुवनदीपक, आरम्भसिद्धि, भद्रबाहुसंहिता केवलज्ञानहोरा, यन्त्रराज, त्रैलोक्यप्रकाश, होरामकरन्द, शकुनशास्त्र, मेघमाला, हस्तकाण्ड, नाड़ीविज्ञान, स्वप्नशास्त्र, केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि, सामुद्रिकशास्त्र, आदि शताधिक ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में अष्टाङ्गसंग्रह, पुष्यायुर्वेद, मदन काम रत्न, नाड़ी परीक्षा, अष्टाङ्गहृदय वृत्ति, योग चिन्तामणि, आयुर्वेद महोदधि, रस चिन्तामणि, कल्याण कारक, ज्वर पराजय आदि ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, हंसदेव का मृगपक्षीशास्त्र और दुर्लभराज का हस्ती परीक्षा नामक ग्रन्थ भी संस्कृत जैनसाहित्य के अमूल्य मणि हैं। इन ग्रन्थों से जैनाचार्यों का वैदुष्य देखा जा सकता है।

### अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश साहित्य में जनजीवन में प्रचलित कथाओं का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। उसमें लोकोपयोगी साहित्य के सृजन पर अधिक ध्यान दिया गया है। पुराण, चरित, कथा, रासा, फागु इत्यादि अनेक विधाओं पर जैनाचार्यों ने अपनी स्फुट रचनायें लिखी हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं —

अपभ्रंश में प्राचीनतम 'पुराण' साहित्य में स्वयम्भू (७वीं-८वीं शती) का पउमचरिउ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनका रिद्धणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) भी उपलब्ध है। हरिवंशपुराण नाम की अन्य कृतियाँ भी मिलती हैं जो धवल (१०-११वीं शती) और यशःकीर्ति (१५वीं शती) द्वारा लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त पुष्यदन्त (१०वीं शती) के तिसड्डिमहापुरिसगुणालंकारु (महापुराण), जसहरचरिउ और गायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ का भविसयत्तकहा (१०वीं शती), कनकामर का करकण्डचरिउ (१०वीं शती), धाहिल का पउमसिरिचरिउ (१०वीं शती), हरिभद्र का सणत्कुमारचरिउ (१०वीं शती), वीर का जम्बूसामिचरिउ (११वीं

शती), नयनन्दि का सुदंसणचरिउ, नरसेन का सिरिवालचरिउ, पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ पुराण अथवा चरित काव्य के सुन्दर निदर्शन हैं।

अपभ्रंश के कुछ 'प्रेमाख्यानक' काव्य हैं जिनका प्रभाव हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों पर भलीभांति देखा जा सकता है। ऐसे काव्यों में साधारण सिद्धसेन की विलासवतीकथा तथा रल्ह की जिनदत्तचउपई विशेष उल्लेखनीय हैं। 'खण्ड काव्यों' में सोमप्रभसूरि का कुमारपालप्रतिबोध, वरदत्त का वज्रस्वामीचरित, हरिदेव का मयणपराजयचरिउ, अब्दुल रहमान का सन्देश रासक, रइधू का आत्मसम्बोधन काव्य, उदयकीर्ति की सुगन्धदशमीकथा, कनकामर का करकण्डचरिउ आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। 'रास' साहित्य तो मुख्यतः जैनों का ही है। उनकी संख्या लगभग ५०० तक पहुँच जायेगी। 'रूपक' काव्यों में मयणपराजयचरिउ, मयणजुञ्ज, सन्तोषतिलकजयमाल, मनकरभारास आदि ग्रन्थों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अपभ्रंश में 'आध्यात्मिक' रचनायें भी मिलती हैं। योगीन्दु (६वीं शती) के परमप्यासु और योगसार, रामसिंह (हेमचन्द्र से पूर्व) का पाहुडदोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, महचन्द्र का दोहापाहुड, देवसेन का सावयधम्मदोहा, आदि ग्रन्थ इसी से सम्बद्ध हैं। सैकड़ों ग्रन्थ तो अभी भी सम्पादक विद्वानों की ओर निहार रहे हैं।

यहाँ प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा में रचित जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण अथवा उल्लेख मात्र किया गया है। वस्तुतः साहित्य की हर विधाओं में जैनाचार्यों का योगदान अविस्मरणीय है। वह ऐसा भी नहीं कि किसी एक काल अथवा क्षेत्र से बंधा हो। उन्होंने तो एक ओर जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखा है वहीं दूसरी ओर तमिल, तेलगू, कन्नड़, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी प्रारम्भ से ही साहित्य-सर्जना की है। इन सबका विशेष आकलन करना अभी शेष है। लगभग इन सभी भाषाओं और क्षेत्रों में जैन साहित्यकार ही आद्य प्रणेता रहे हैं। जैनेतर साहित्यकारों को उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से जो प्रेरणा मिली है वह भी उनके साहित्य में देखी जा सकती है।

## अन्य भारतीय भाषाओं का जैन साहित्य

### तमिल जैन साहित्य

ई०पू० की शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैनधर्म के पैर काफी मजबूत

हो चुके थे। उसकी स्थिति का प्रमाण तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में खोजा जा सकता है। तोलकाटिपयम् तमिलभाषा का सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ है जिसे किसी जैन विद्वान् ने लिखा था। कुरल काव्य तमिल भाषा में लिखे नीति ग्रन्थों का अग्रणी रहा होगा। इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द अपरनाम एलाचार्य मानेजाते हैं। एक अन्य जैन गन्थ नालडियार का नाम भी उल्लेखनीय है जो नीति गन्थों में महत्त्वपूर्ण है।

तमिल साहित्य में पांच महाकाव्य हैं — शिलप्पदिकारम, वलयापनि, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणिमेखलै। इनमें से प्रथम तीन जैन लेखकों की कृतियाँ हैं और अन्तिम दो बौद्ध लेखकों की देन है। नरिविरुत्तम भी संसार की दशा का चित्रण करने वाला एक उत्तम जैन काव्य है। इन बृहत् काव्यों के अतिरिक्त पांच लघुकाव्य भी हैं जो जैन कवियों की कृतियाँ हैं — नीलकेशि, चूड़ामणि, यशोधर कावियम्, नागकुमार कावियम् तथा उदयपान कथै। वामनमुनि का मेरूमंदरपुराणकथा, अज्ञात कवियों के श्रीपुराण और कलिंगुत्तुप्परनि जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। छन्द शास्त्र में याप्यरूंगलम्कारिकै, व्याकरणशास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूलू, कोश क्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु, और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरूनूरन्तादि और तिरुक्कलम्बगम्, गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रन्थ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रन्थ हैं।

### तेलगू जैन साहित्य

तमिल और कन्नड़ क्षेत्र में जैनधर्म का प्रवेश उसके इतिहास के प्रारम्भिक काल में ही हो गया था। तब यह स्वाभाविक है कि आन्ध्रप्रदेश में उससे पूर्व ही जैनधर्म पहुँच गया होगा। राजराज द्वितीय के समय में आन्ध्रप्रदेश में वैदिक आन्दोलन का प्रभाव यहाँ तक हुआ कि उस समय तक के समूचे कलात्मक और साहित्यिक क्षेत्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। तेलगू साहित्य के प्राचीनतम कवि नन्नय भट्ट ने ११वीं शती में इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप में अपने महाभारत में स्वीकार किया है। श्रीशैल प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व रहा है। तेलगू के समान मलयालम में भी जैन साहित्य कम मिलता है पर जो भी मिलता है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

### कन्नड़ जैन साहित्य

कर्नाटक प्रदेश में जैनधर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि वंशों के राजाओं, सामन्तों, सेनापतियों और मन्त्रियों

को उसने प्रभावित किया तथा जनसाधारण भी उसके लोकरंजक स्वरूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। श्रवणवेलगोला, पोदमपुर, कोपळ, पुत्राड, हुमच आदि प्राचीन जैन स्थल इनके प्रतीक हैं। यहाँ की मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनधर्म का विशेष योगदान रहा है।

प्रमुख जैन साहित्यकार भी इसी क्षेत्र में हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी या उमास्वाति समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, जिनसेन, गुणभद्र, वीरसेन, सोमदेव आदि आचार्यों के नाम अग्रगण्य हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जैनाचार्यों ने कन्नड़ साहित्य की रचना की। महाकवि कवितागुणार्णव पम्प (ई० ९४१), कविचक्रवर्ती पोत्र (ई० ९५०), कविरत्न रत्न (ई० ९९३), वीरमार्तण्ड चामुण्डराय (ई० ९७८), गद्य-पद्यविद्याधर श्रीधर (ई० १०४९), सिद्धान्तचूड़ामणि दिवाकरनन्दि (ई० १०६२), शान्तिनाथ (ई० १०६८), नागचन्द्र (ई० ११००), कन्ति (ई० ११००), नयसेन (ई० १११२), राजादित्य (ई० १११०), कीर्तिवर्मा (ई० ११२५), ब्रह्मशिव (ई० ११३०), कर्णपार्य (ई० ११४०), नागवर्मा (ई० ११४५), सोमनाथ (ई० ११५०), वृत्तविलास (ई० ११६०), नेमिचन्द्र (ई० ११७०), वोप्पण (ई० ११८०) अगल (ई० ११८९), आचण्ण (ई० ११९५), बन्धुवर्मा (ई० १२००), पार्श्वनाथ (ई० १२०५), जन्न (ई० १२३०), गुणवर्मा (ई० १२३५), कमलभाव (ई० १२३५), महावल (ई० १२५४) आदि कवियों ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि की। व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी क्षेत्रों में आधुनिक काल तक जैन लेखक कन्नड़ भाषा में साहित्य-सृजन करते रहे हैं। समूचे जैन कन्नड़ साहित्य की विस्तृत रूपरेखा देना यहाँ सम्भव नहीं। यह उसका संक्षिप्त विवरण है।

### मराठी जैन साहित्य

मराठी साहित्य का प्रारम्भ भी जैन कवियों से हुआ है। उन्होंने १६६१ ई० से लेखन कार्य अधिक आरम्भ किया। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिजन, गुणनन्दि, पुष्पसागर, महीचन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्रकीर्ति, कललप्पा, भरमापन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी में साहित्य तैयार किया। यह साहित्य अधिकांश रूप से अनुवाद रूप में उपलब्ध होता है।

### गुजराती जैन साहित्य

गुजराती भाषा का भी विकास अपभ्रंश से हुआ है। लगभग १२वीं शती से अपभ्रंश और गुजराती में पार्थक्य दिखाई देने लगा। गुजरात प्रारम्भ से ही



जैनधर्म और साहित्य-संस्कृति का केन्द्र रहा है। हेमचन्द्र आदि अनेक जैन आचार्य गुजरात में हुए जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य-सृजन किया। लगभग १२वीं शती में जैन कवियों ने रासो, फागु, बारहमासा, कक्को, विवाहलु, चच्चरी, आख्यान आदि विधाओं को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। इसके पूर्व उद्योतनसूरि (७७९ ई०) की कुवलयमाला तथा धनपाल की भविस्सयत कहा प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्रसिद्ध काव्य हैं जो गुजराती के लिए उपजीव्य कहे जा सकते हैं। शालिभद्रसूरि (११८५ ई०) का भरतेश्वर बाहुबलिरास प्रथम प्राय्य गुजराती कृति है। उसके बाद धम्मू का जम्बूरास, विनयप्रभ का गौतमरास, पथसूथी का सिरिथूलिभद, राजशेखरसूरि का नेमिनाथ फागु, प्राचीन गुजराती साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। इस काल में अधिकांश लेखक जैन हुए हैं।

भक्तिकाल में १५वीं शती में भी जैन ग्रन्थकार हुए हैं। शालिद्ररास, गौतमपृच्छा, जम्बूस्वामी विवाहलो, जावड भावडरास, सुदर्शन श्रेष्ठिरास आदि ग्रन्थ इसी शती के हैं। लावण्यसमय १६वीं शती के प्रमुख साहित्यकार थे। विमलप्रबन्ध भी इसी समय की रचना है। रास, चरित्र, विवाहलो, पवाड़ो आदि अन्य साहित्य भी इसी समय लिखा गया। १७वीं शती के जैन साहित्य में नेमिविजय का शीलवतीरास, समय सुन्दर का नलदमयन्तीरास, आनन्दघन की आनन्द चौबीसी और आनन्दघन बहोत्तरी प्रमुख हैं। इसी समय लोकवार्ता साहित्य तथा रास और प्रबन्ध भी लिखे गये। १८-१९वीं शती में भी साधुओं ने इसी प्रकार का साहित्य लिखा। उदयरत्न, नेमिविजय, देवचन्द्र, भावप्रभसूरि, जिनविजय, गंगविजय, हंसरत्न, ज्ञानसागर, भानुविजय आदि जैनसाहित्यकार उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने गुजराती भाषा में विविध साहित्य लिखा है।

### हिन्दी जैन साहित्य

हिन्दी साहित्य का तो प्रारम्भ ही जैन साहित्यकारों से हुआ है। उसका आदिकाल कब से माना जाय यह विवाद का विषय अवश्य रहा है पर स्वयम्भू और पुष्पदन्त को नहीं भुलाया जा सकता जिनके साहित्य में अपभ्रंश से हटकर हिन्दी की नयी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। मुनिरामसिंह, महयंदिण मुनि, आनन्द तिलक, देवसेन, नयनन्दि, हेमचन्द्र, धनपाल, रामचन्द्र, हरिभद्रसूरि, आमभद्र आदि जैन कवि उल्लेखनीय हैं। करकण्डचरिउ, सुदर्शनचरिउ, नेमिनाहचरिउ आदि अपभ्रंश साहित्य भी इसी काल का है। रासो, फागु, बेलि, प्रबन्ध आदि विधाओं भी यहाँ समृद्ध हुई हैं। शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का बाहुबलिरास, जिनदत्तसूरि के चर्चरी, कालस्वरूप फुलकम् और उपदेश रसायन सार, जिनपद्मसूरि (वि०सं०

१२५७) का शूलिभद्रफाग, धर्मसूरि (वि०सं० १२६६) का जम्बूस्वामीचरित्र, अभयतिलक (वि०सं० १३०७) का महावीररास, जिनप्रभसूरि का पद्मावती देवी चौपई और रल्ह का जिनदत्त चौपई विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भी जैनाचार्यों ने प्रबन्ध, चरित कथा, पुराण, रासा, रूपक, स्तवन, पूजा, चउपई, चूनड़ी, फागु, बेलि, बारहमासा आदि सभी प्रकार का साहित्य सृजन किया। साहित्यकारों में बनारसीदास, घानतराय, कुशललाभ, भूधरदास, दौलतराम, रायमल्ल, जयसागर, उपाध्याय, सकलकीर्ति, लक्ष्मीवल्लभ, रूपचन्द पाण्डे, भैया भगवतीदास, वृन्दावन, ब्रह्मजयसागर, देवीदास, ठकुरसी आदि शताधिक जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। रहस्यभावना की दृष्टि से यह काल दृष्टव्य है।<sup>१</sup>

इसी प्रकार बंगला, उड़िया, आसमिया, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी जैन साहित्य की विभिन्न परम्परायें उपलब्ध होती हैं। उन्होंने अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

इस प्रकार जैन साहित्य की परम्परा लगभग २५०० वर्ष से अविरल रूप से प्रवाहित होती आ रही है। उसमें सामयिक गतिविधियाँ और साहित्यिक तथा सामाजिक आन्दोलन के स्वर भी मुखरित हुए हैं। समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग हर विधा के जन्मदाता जैनसाहित्यकार ही हुए हैं। उनके योगदान का लेखा-जोखा अभी भी शेष है। विद्वानों को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि समूचा जैन साहित्य प्रकाश में आ जाय तो निश्चित ही नये मानों की स्थापना और पुराने प्रतिमानों का स्वरूप बदल जायेगा।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का यह अवदान सांस्कृतिक, दार्शनिक, भाषिक, साहित्यिक, आदि सभी क्षेत्रों में अनुपम रहा है। ये सारे क्षेत्र अपेक्षाकृत अभी कम ही अध्ययन के विषय हो सके हैं। शोधकों के लिए इसमें अपरिमित क्षेत्र है। साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी यहाँ सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। विस्तारमय से यहाँ हम इस विषय को विराम दे रहे हैं।



- 
१. विशेष देखिए - मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना, डॉ० पुष्पलता जैन का शोधप्रबन्ध।



